परिचय

हिन्दी का कथा-साहित्य किसी से आज पीछे है, ऐसा मुझे नहीं लगता। अनेक प्रतिभायें काम कर रही है और उदय में आ रही है। श्री वैष्णव का स्थान निश्चय ही उनमें अपना है। कभी तो प्रतीति हुई है कि बुद्धि और हृदय का जो सतुलन उनमें है वह अन्य में नही है। साथ ही स्वप्न शीलता भी है, जिसे मन-बुद्धि से आगे आत्मा का गुण कहें, और जो मुझे, साहित्य के विषय में सबसे कीमत और महत्त्व की चीज लगती है।

पुस्तक में कई कहानिया है जिनका हिन्दी की बिरली कहानियो में स्थान होगा।

—जैनेन्द्रकुमार

अस्थि-पिंजर

[वैज्ञानिक कहानी-संग्रह]

लेखक

श्री यमुनादत्त वैष्णव

नवयुग साहित्य सदन

इन्दौर

प्रकाशक
गोकुलदास धूत
नवयुग साहित्य सदन
इन्दौर

प्रथम बार : १९४७
मूल्य
अढ़ाई रुपये

मुद्रक
श्री नाथदास अग्रवाल
टाइम टेबुल प्रेस, काशी ।

परिचय

शायद सन् ३८ की बात है। प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रतियोगिता में आई एक कहानी पर मैं दंग रह गया। उसे पढ़ते ही यह तो स्थिर हो गया कि पहला इनाम कहीं और न जायगा, लेकिन मन में यह न जमता था कि एक विद्यार्थी ऐसी कहानी लिख सकता है। उसमें व्यंग था तो व्याप्त। मर्म था तो कहीं एक या अनेक स्थल पर नहीं, मानो कहानी स्वयं मर्म थी। कथा थी तो सर्वथा उच्छ्वासहीन और अन्तर्लीन। मेरे मन यह ऊँची कला के लक्षण थे। कच्ची विद्यार्थी अवस्था में ही सिद्धि किसी को प्राप्त होगी, मन यह न मानना चाहता था। सोचा हो न हो, किसी विलायत के लेखक की यह रचना है और विद्यार्थी ने हठात् अपना लिया है। इससे इनाम देने से पूर्व कहानी लेखक से मैंने भेंट चाही और सामने यमुनादत्त वैष्णव को पाकर मुझे अचरजभरी प्रसन्नता हुई। उन्होंने एक कॉपी मुझे दी जिसमें और रचनाएँ थीं। मेरे मन की शंका दूर होगई और देखा कि इस व्यक्ति के वैज्ञानिक अभ्यास को अन्तरस्थ स्निग्ध सरलता ने कोई धारदार धार नहीं मिलने दी है। इसलिए जबकि उसकी रचनाओं में विश्लेषण की सूक्ष्मता है तब सभी ओर सहानुभूतिशील स्वस्थ सहृदयता भी है।

हिन्दी का कथा-साहित्य किसी से आज पीछे है, ऐसा मुझे नहीं लगता। अनेक प्रतिभाएँ काम कर रहीं और उदय में आरही हैं। श्री यमुनादत्त वैष्णव का स्थान निश्चय उनमें अपना है। कभी से प्रतीति हुई है कि बुद्धि और हृदय का जो संतुलन उनमें है वह अन्य

म नहीं है। साथ ही स्वप्नशीलता भी है, जिसे मन बुद्धि से आगे आत्मा का गुण कहें और जो मुझे, साहित्य के विषय में, सबसे कीमत और महत्त्व की चीज लगती है। तीर्थयात्रा कहानी का प्रभाव कुछ तदनुरूप निर्मल और निर्गुण है। वह धवल है, जिसमें सब रंग हैं, इससे स्वयं बेरंग है। वहां बुद्धि-प्रयोग से जो नहीं हो सका वह अंतरंग का प्रस्फुटन विराट के स्पर्श से सहज ही हो रहता है। क्षुद्र राग और मोह प्रकृति के शून्य में सर्वत्र प्रत्यक्ष महा विराट की समक्षता पर आप ही तिरोहित हो जाते हैं।

पुरस्कार वाली कहानी 'वैज्ञानिक की पत्नी' पर अब भी सोचता हूं तो स्तब्ध रह जाना होता है। उच्छ्वास का तनिक भी व्यय वहां नहीं है। कुल मिलाकर एक ऐसी गभीर सप्रश्नता और विह्वलता कथा से प्राप्त होती है कि उसके प्रभाव से व्यक्तिगत रुचि-अरुचि, रागद्वेष पाठक में कुछ देर के लिए लीन और मूर्च्छित हो जाते हैं।

पुस्तक में कई कहानियाँ हैं, जिनका हिन्दी की बिरली कहानियों में स्थान होगा और मैं प्रकाशक के भाग्य को सराहता हूं कि श्री यमुनादत्त वैष्णव जैसी प्रतिभा को प्रकाश में लाने का उन्हें अवसर मिला।

७ दरियागंज, दिल्ली
१६. ६. ४७

जैनेन्द्रकुमार

श्री जैनेन्द्र जी

को

सादर समर्पित

निवेदन

इस संग्रह मे कुछ कहानियाँ वैज्ञानिक विषयो (Scientific Journalism) पर लिखी गई' हैं। वैज्ञानिक संवाद-कला इतनी नई कला है कि इसे साहित्यिक अभी कोई निश्चित नाम ही नहीं दे पाये हैं। वैसे सभी कहानियां वैज्ञानिक घात-प्रतिघात तथा सुप्त और जाग्रत मनश्चेतना की चेष्टाओं का सुलभ निरूपण मात्र होने के कारण वैज्ञानिक कहानियां कही जा सकती हैं। लेकिन इस संग्रह में निरे वैज्ञानिक विषयो, भौतिक और रसायनिक विज्ञान के तत्थ्यों, रूपकों और उदाहरणों को दैनिक व्यवहार मे लाने का प्रयत्न किया गया हैं।

साथ ही युद्ध-जनित समस्याओं से सम्बन्धित कहानियाँ है, जिन समस्याओं के कारण हमारा सारा सांस्कृतिक जीवन आज एक गहरी चोट-सी खाकर विध्वस्त सा खड़ा है। पर सभी कहानियों मे यत्र-तत्र वैज्ञानिक तत्थ्यो का समावेश है। प्रगति के नाम पर न कहीं निरी अश्लीलता का सहारा लिया गया है और न यथार्थवाद का।

आशा है पाठक इस नवीन दृष्टिकोण से लिखी गई कहानियों को पसन्द करेंगे और चाव से पढ़ेंगे।

एक बात की पाठकों से हमे क्षमा मागनी है। प्रेस काशी मे, लेखक बिजनौर में और हमारा काम इन्दौर में होने के कारण पुस्तक की प्रूफ की ठीक व्यवस्था न हो सकी और प्रूफ लेखक के पास न जा सके। इस कारण कुछ गलतियां ऐसी रह गई' जो शोभा की बात नहीं है। उनमें से एक गलती तो पाठक अवश्य ही सुधार लेने की कृपा करें। और वह यह कि पृष्ठ २२८, २२६ १४०, २४५ पर जो अलकनदा नाम आया है उसकी जगह मंदाकिनी नाम करलें। शेष भूलें हमें आशा है कि नये संस्करण मे सुधार लेंगे। आशा है पाठक इसके लिए हमें क्षमा करेंगे।

—प्रकाशक

विषय सूची

अस्थि-पिंजर

नौ बज गये, पर नर्स फिर भी नहीं आई। साढ़े सात बजे पट्टी खुल जानी चाहिए थी। सोच रहा था, आज पट्टी खुल जायगी तो कुछ चलूँगा फिरूँगा। पर उसका पता ही नहीं था। डाक्टर राबर्ट की पत्नी के मरने पर क्या सब रोगियों को भी मरना पड़ेगा! मेरे पास पड़ा हुआ विद्यार्थी बड़ी देर से 'नर्स, नर्स!' पुकार रहा है, पर कोई भी उत्तर नहीं देता।

कुहनियों के बल मैं उठने का प्रयत्न करने लगा। सोचा अब अपने ही हाथ से पट्टी खोलकर फेंक दूँगा—अब तो घाव अच्छा हो ही गया होगा। डाक्टर राबर्ट के पास समवेदना प्रकट करने अवश्य जाना है। पर इसी समय किसी के आने का शब्द सुन-कर मैं फिर लेट गया। सोचा, वही होगी। पर ये उस विद्यार्थी को देखने वाले कुछ युवक थे।

"बिलकुल नहीं, डाक्टर राबर्ट को उसके मरने का बिलकुल शोक नहीं।" एक ने कहा।

...ज की तरह प्रयोग-शाला में कार्य कर रहे हैं ...ाता।

"विश्वास नहीं कर सकता।" खाट पर पड़े हुए उस विद्यार्थी ने कहा—"राबर्ट अपनी पत्नी को बहुत चाहते थे, उन्हें उसकी मृत्यु पर दुःख न हो, यह कैसे हो सकता है!"

"मरना उनके लिए कोई असाधारण बात नहीं है।" उनमें से एक ने कहा—"हजारों को तो डाक्टर राबर्ट इसी इंस्टीट्यूट के अस्पताल में मरते देख चुके होंगे।"

इस इंस्टीट्यूट का नाम 'मेडिकल रिसर्च इंस्टीट्यूट' था।

उपरोक्त घटना सत्रह जुलाई के प्रात: की है। उन दिनों डाक्टर राबर्ट इस इंस्टीट्यूट के प्रधान थे और मैं भी एक विभाग का अध्यक्ष था। विहटा की रेल-दुर्घटना में डाक्टर राबर्ट की पत्नी शेला का भी अन्त हो गया यह खबर हमारे इंस्टीट्यूट में उसी दिन प्रातःकाल पहुँची थी। इसीलिए सारे इंस्टीट्यूट के काम ढीले पड़ रहे थे। रोगियों की सेवा सुश्रूषा करने के लिए दो तीन घण्टे से कोई आया ही न था। मेरे पाँव में दो तीन हफ्ते से एक फोड़ा हो गया था। ठीक घुटने पर होने से मुझे भी अस्पताल की शरण लेनी पड़ी थी।

मैं सोच रहा था, तो क्या डाक्टर राबर्ट को पत्नी के मृत्यु पर शोक नहीं हुआ! अभी प्रातःकाल समाचार आया कि, विहटा की दुर्घटना में उसका भी अन्त हो गया और वे काम कर रहे हैं!

डाक्टर राबर्ट के नाम से शरीर विज्ञान के जानने वाले सभी परिचित हैं। मनुष्य के शरीर की हड्डियों के तो वे संसार के इने-गिने विशेषज्ञों में माने जाते हैं। कृत्रिम हड्डी के बनाने में उन्हें अपूर्व सफलता मिली है। 'अस्थिक्षय' नामक रोग की औषधी 'राबर्ट इमलसन' उन्हीं के नाम पर है। इसके अतिरिक्त खाद्योज और विटेमिन पर भी, जो प्रयोग उन्होंने किये हैं, वे आज सर्वमान्य हैं। पर सबसे अधिक श्रेय उन्हें अंधकार के प्रयोगों

का है। उनमें यह विलक्षणता है कि वे अन्धकार में भी पुस्तकें पढ़ लेते हैं। बिलकुल अंधेरे में शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म अंगों का चीड़ फाड़ करना उनके लिए आसान है। बहुत से रोग-कीटाणुओं का पता लगाना वैज्ञानिकों के लिए कठिन था, क्योंकि प्रकाश तरंगों के पड़ते ही इन कीटाणुओं के रूप और आकार में परिवर्तन आ जाता है। इनके वास्तविक रूप को डाक्टर राबर्ट ने ही पहिले पहल जाना था। आज संसार के अनेक प्रयोग-शालाओं में इन पर प्रयोग किए जा रहे हैं।

मैं इन लोगों की बातें सुन रहा था कि नर्स भी आ गई, रोनी सी सूरत बना कर उसने कहा—"साहब, मैं तो दंग रह गई! ऐसा कभी नहीं देखा।"

कुछ हंसने का सा प्रयत्न करते हुए मैंने कहा—"क्या हुआ?"

वह कहने लगी "बेचारी शीला मर गई, सब लोग इसी दुःख में पड़े हैं, पर डाक्टर राबर्ट को देखिए मानो कुछ हुआ ही नहीं। काम में लगे हैं! ऐसा तो कभी न देखा।" वह रोने लगी।

मैंने कहा—"डाक्टर राबर्ट समझदार आदमी है, जो हो गया अब उसके लिए शोक करने से होता ही क्या है।"

"समझदार!" वह मेरे पाँव की पट्टी खोल रही थी; पर बीच ही में रुक कर उसने कहा, "आप उन्हें समझदार कहते हैं। निर्दय, हृदयहीन—वैज्ञानिक होते ही निठुर हैं।"

उसके आँसुओं से मेरी पट्टी भीग रही थी। उसका गला रुँधा हुआ था। इसीलिए वह कुछ और न बोली।

मेरा घाव अभी अच्छा नहीं हुआ था। इसीलिए मैं सान्त्वना देने डाक्टर राबर्ट के पास न जा सका। पर जो कोई भी अस्पताल में आ रहा था, मैं उससे उनके विषय में पूछ ले रहा था।

सब की यही राय थी कि उन्हें विशेष दुःख नहीं हुआ। पर गफ़ूर की इस बात से कुछ और ही प्रकट होता था। गफ़ूर उन्हीं का नौकर है। जब वह आज मेरे पास आया तो मैंने पूछा—

"कब आई थी रे खबर?"

"सुबह सात बजे," उसने कहा, "बड़ा अन्धेर हो गया। साहब को तो बहुत ही दुःख है। वे बहुत रोये।"

"अच्छा?" मैंने कुछ अविश्वास से कहा—"क्या तुमने देखा?"

"हाँ।" वह बोला, जब तार आया डाक्टर राबर्ट चिल्ला उठे। मुझे बाहर चले जाने को कहा और कमरा बन्द कर के वे बहुत देर तक रोते रहे। बाहर साफ़ सुनाई दे रहा था। लेकिन हुज़ूर, देखिए, यहाँ आते ही वे काम में लग गये। मुझ से 'फार्मलीन' मँगाया और ख़ुद बनाने लग गये। कमरे से बाहर आकर उन्होंने एक भी आँसू नहीं गिराया।"

दूसरे दिन प्रातःकाल मैंने एक अंग्रेजी दैनिक में पढ़ा कि, हमारे इंस्टीट्यूट में जो शोक-सभा उनकी पत्नी शेला के लिए हुई उसमें उन्होंने कहा, 'मैंने आजतक शरीर विज्ञान' में जितनी गवेषणाएँ की सब शेला के प्रोत्साहन और सहयोग से–अब मैं कुछ न कर सकूँगा। आदि।"

था भी ऐसा ही। विवाह के पूर्व उन्हें जानता कौन न था? 'शरीर विज्ञान' सम्बन्धी कोई भी महत्वपूर्ण अनुसंधान उन्होंने नहीं किये थे। पुष्पज्वर (हे फीवर), गर्दन तोड़ (मैनेनजाइटीज़) आदि रोगों के मिश्रण बनाए थे, पर सफलता किसी में भी नहीं हुई थी। केवल 'शरीर विज्ञान' की एक दो पुस्तकों के लेखक होने से उनका थोड़ा बहुत नाम था।

तीन दिन बाद, मैं भी उनके पास गया। समवेदना प्रकट की। उन्होंने अपने मुँह पर हँसी लानी चाही, हँस भी गये। पर

रोने से भी अधिक करुणाजनक होठों का खुल जाना क्या वह हंसी थी! उनके चेहरे पर दुःख स्पष्ट अंकित था। फिर यह मुसकराने का प्रयत्न क्यों? डाक्टर राबर्ट अपने दुःख से किसी को दुःखी नहीं करना चाहते। उस भयानक शोक को वे अपने ही हृदय में गाड़ देना चाहते हैं, यही मैंने समझा।

दो तीन दिन बाद करांची से एक योरोपियन आया। उसकी पथरी का 'आपरेशन' करना था। मुझे भी इसीलिए डाक्टर राबर्ट के साथ 'आपरेशन रूम' में जाना था। जब मैं अन्दर गया तो उसी समय डाक्टर राबर्ट भी वहाँ पहुँच रहे थे। उन्होंने मुझे नहीं देखा, मैंने सामने उस बड़े आइने में देखा कि, वे दीवाल पर टंगे एक चित्र को देख रहे थे। यह चित्र उस समय का था जब सब से पहिले हमारे इंस्टीट्यूट में कृत्रिम हड्डी बनी थी, इसमें डाक्टर राबर्ट हंस रहे थे और शेला के हाथों में बनावटी हड्डी का 'शिनबोन' का नमूना था। उनके ओंठ उस चित्र को देखकर कुछ विकृत से हुए। आँखें भर आईं। उन्होंने एक लम्बी साँस ली और हलकी सी आह भरी। और उसी समय पीठ फेरी। मैंने—मानो उन्हें देखा ही न हो—खिड़की से बाहर देखने का बहाना किया।

थोड़ी देर में उन्होंने कहा—"डाक्टर चक्रधर गुडमार्निंग!"

"गुड मार्निंग," मैंने उनकी ओर देखकर कहा। उनके मुँह पर वही बनावटी हँसी थी।

एक दो सप्ताह तक यही हाल रहा। जब कभी बर्तनों, वस्त्रों, औषधियों तथा औजारों को देखकर उन्हें शेला की याद आती वे अनायास ही मेरी ओर देखने लग जाते। उनके मुँह पर मैं वही हँसी देखता था। अब मुझे उनके चेहरे की ओर देखने में भय सा होने लगता; वह हँसी मुझे असह्य सी होने लगी।

उनकी मेज पर भी अब मैं 'मेट्रिया मेडिका' और 'मेडिकल प्रेक्टिशनर' के साथ-साथ गीता के अनुवाद और 'दर्शनों की टीकायें' आदि पुस्तकें देखने लगा।

(२)

दिसम्बर की बात है।

डाक्टर राबर्ट शेला को सचमुच भूल गए। इन पाँच-छः महीनों में उन्होंने कई एक छोटी-मोटी औषधियों का आविष्कार कर दिया। दो हड्डियों के बीच में जो लचीला पदार्थ होता है, उसे प्रयोगशाला में बनाने में वे सफल हुए। 'रायल सोसायटी' ने भी उन्हें अपना सभासद चुन लिया। अन्धकार के प्रयोगों पर उन्हें नोबिल पुरस्कार देने की आयोजना होने लगी। लंदन के एक आयुर्वैदिक विद्यालय ने उन्हें आमन्त्रित किया। प्रधान बना कर पाँच सौ पाउंड मासिक देना चाहा, पर उन्होंने साफ इनकार कर दिया; वे हमारे इंस्टीट्यूट में केवल एक हजार रुपया पाते थे।

जहाँ तक मैं देख सका उन्हें अब शेला की याद ही नहीं आती थी। मानो एक स्वप्न की भाँति उसकी सब स्मृति उनके मस्तिष्क से धुल गई हो। उनमें वही स्फूर्ति थी, वही दत्तचित्तता। वे सदा प्रसन्न और मुस्कराते हुए दिखलाई देते थे। उन्हें शेला की मृत्यु पर अवश्य शोक हुआ, पर अब हृदय में दबी हुई उस शोक समाधि के ऊपर भूमि फिर समतल हो गई थी। सुन्दर पुष्प खिल आए थे।

मस्तिष्क-पेशियों का प्रयोग बहुत लम्बा था। डाक्टर राबर्ट आज ग्यारह दिन से अपनी अँधेरी कोठरी में इसी प्रयोग में लगे थे। जब डाक्टर राबर्ट किसी नये प्रयोग में लगते हैं तो उनके दो-तीन सप्ताह के लिए हमें पहिले ही से भोजन-फल आदि

का प्रबन्ध कर देना होता है—इस बीच हम किसी प्रकार भी उनके काम में बाधा नहीं पहुँचाते। जब से मैं इस अन्वेषण शाला में आया हूँ वे यह पाँचवीं बार अँधेरी कोठरी में एक लम्बा प्रयोग करने गये हैं। पहिले भी उन्होंने जब-जब इस प्रकार प्रयोग किये हैं कोई न कोई वस्तु संसार के सम्मुख रक्खी है। इस बार कोठरी में जाने से पहिले वे हम लोगों से मिले और हँसते हुए कहा—"अब मैं तपस्या के लिए गुफा में जाता हूँ!" इस बार वे कुछ अस्थिपिंजरों पर प्रयोग करके यह बतलाने वाले थे कि उन मृतकों के मस्तिष्क में मृत्यु के समय क्या-क्या विचार आ रहे थे। इसीलिए उन्होंने हमारे इन्स्टीट्यूट के लगभग सैंतालीस अस्थि-पिंजर उस कोठरी में रख लिए थे।"

देश विदेशों से रोज हमारे पास पत्र आ रहे थे कि डाक्टर राबर्ट कहाँ तक अपने इस प्रयोग में सफल हो रहे हैं। आज ही की बात है, एक तार टोरंटो के विश्वविद्यालय से और दूसरा हेग से आया है। संसार के सभी वैज्ञानिक मनोविज्ञान के इस अद्भुत प्रयोग के विषय में बड़े ही उत्सुक हो रहे हैं। शाम को घर लौटते समय उन अस्थिपिंजरों के विवरण की सूची भी मैं अपने साथ लेता आया। मुझे अस्थिपिंजरों पर कुछ प्रयोग नहीं करने होते हैं, फिर भी यह जानने की उत्सुकता हो रही थी कि देखें डाक्टर राबर्ट इनके विषय में क्या-क्या बतलाते हैं।

उस फाइल को लेकर पढ़ने बैठा ही था कि, टेलीफोन की घंटी बजने लगी।

"कौन ?" मैंने चोंगा हाथ में लिया।

"वही फाइल जो आप ले गये हैं"···हमारे ही इन्स्टीट्यूट का क्लर्क बोल रहा था।

"तो क्या ?" मैंने पूछा।

"डाक्टर राबर्ट कुछ पूछना चाहते है।"

डार्क रूम का नम्बर मिलाकर मैंने कहा—"डाक्टर, आप कुछ पूछ रहे है न ?"

'हाँ", उन्होंने कहा—"मै यह जानना चाहता हूँ कि कौन सा अस्थिपिंजर कब और कहाँ से आया है।"

मैं फ़ाइल की सूची खोलकर पढने लगा—"एक से नम्बर नौ तक 'इम्पीरियल रिसर्च कॉलेज' से आये है। नम्बर दस मैनेनजाइटीज का एक रोगी हमारे चिकित्सालय में मरा था। नम्बर ग्यारह एक भिखारी—म्युनिसिपल बोर्ड ने भेजा था, कहीं गली में मरा पाया गया था। नम्बर—"

"डिटेल्स (पूरे विवरण) नहीं चाहिए।" उन्होंने कहा।

"अच्छा," कहकर मैंने फ़ाइल का पहिला पृष्ठ खोला और पढ़ने लगा—"नम्बर बारह से तेईस तक बड़ी लड़ाई के समय के हैं। तेईस, पचीस और इकतालीस के विषय में कुछ नहीं लिखा गया है। उनतीस तक बाढ़ में उतारे गये थे। सैंतीस तक सभी अस्पताल में मरे रोगी हैं। अट्ठाईस डाक्टर सैमुवेल के नौकर का है। शेष सात विहटा की दुर्घटना से आये हैं।"

"बिहटा से ?" कुछ आश्चर्य से उन्होंने पूछा—"मुझे तो आज तक यह पता भी न था। अच्छा कौन-कौन आए हैं वहाँ से ?"

मैंने पढ़ दिया—"उनतालीस, चालीस · सैंतालीस······"

"अच्छा बस, धन्यवाद।" उन्होंने कहा।

डाक्टर राबर्ट को यह भी नहीं मालूम कि बिहटा से कुछ अस्थिपिंजर आए हैं। मुझे भी इससे आश्चर्य हुआ। शायद गुप्ता ने, जो इस विभाग के अध्यक्ष हैं, यही सोचकर कि राबर्ट को दुःख होगा; इनके विषय में कुछ न कहा हो। फिर उनकी पत्नी की तो लाश ही न मिली थी।

(३)

"खननननन !"

मैं सो रहा था। टेलीफोन की घंटी बजने लगी। डाक्टरों को नींद कहाँ आती है! सोचा अस्पताल में बुलाया होगा—कोई नया रोगी आ गया होगा।

"हाँ कौन ?" मैंने पूछा।

"जल्दी आइए, हा हा हा ! जल्दी आइए, डाक्टर चक्रधर !" डाक्टर राबर्ट बोल रहे थे; उनकी हँसी से टेलीफोन गूँज रहा था। "डाक्टर चक्रधर, मैंने एक बिलकुल नई वस्तु का आविष्कार कर दिया है।" एक-एक शब्द में प्रसन्नता थी। "डाक्टर चक्रधर, आप आ रहे हैं ? देखिये मैंने क्या कर दिया है।"

"हाँ हाँ, मैं आ रहा हूँ," मैंने कहा। जल्दी-जल्दी कपड़े पहिनने लगा। नौकर को उठाकर मैंने शोफ़र से मोटर तैयार करने को कहा, मेरी उत्सुकता प्रतिक्षण बढ़ रही थी।

नौकर ने कहा—"डाक्टर गुप्ता आये हैं, आपके लिए बाहर खड़े हैं।" (गुप्ता मेरे ही साथ काम करते हैं) मैं समझ गया डाक्टर राबर्ट ने उन्हें भी 'फोन' किया होगा।

हम दोनों मोटर पर सवार हुए। कुछ ही मिनटों बाद प्रयोग-शाला में जा पहुँचे। डाक्टर राबर्ट पास वाले कमरे में हमारी ही प्रतीक्षा में बैठे थे। हमारा स्वागत करते हुए उन्होंने बहुत धीमी आवाज में कहा—"कितने आश्चर्य का विषय है! मैं भी अभी कुछ ही घंटे पहिले तक इसे असम्भव समझता था।"

मैं न समझ सका। अभी तो टेलीफोन में वे इतनी ज़ोर से चिल्ला रहे थे और अब। [illegible] क्यों [illegible] रहे हैं ! वे कहते गये—"आप देखेंगे कि, इन अस्थिपंजरों में से आज एक [illegible]वित हो गया है।"

"है !" गुप्ता ने एकाएक [illegible] करते हुए कहा। मैं भी

चौंक गया। हम दोनों में से कोई भी इस बात को सुनने के लिए तैयार न था।

"हाँ," डाक्टर राबर्ट ने कहा, "आप धीरे से बोलिए वह सो रही है।"

"वह सो रही है।" गुप्ता ने कहा—"कोई स्त्री है ?"

मैं बिलकुल हक्का-बक्का सा रह गया। पैरों में अजीब तरह की झनझनाहट होने लगी। डाक्टर राबर्ट उसी प्रकार फिर धीरे से बोले—"वही नम्बर उनतालीस अस्थिपिंजर मुझे अब ज्ञान हुआ कि उसका है। दुर्घटना के बाद जो चकनाचूर हड्डियाँ शेला की बतला कर मुझे दी गई थीं उसकी न थीं।"

शेला की ? आपकी पत्नी ?" गुप्ता ने कहा।

"हाँ उनतालीसवाँ अस्थिपिंजर उसी का है। हाथों और पैरों की हड्डियों की परीक्षा करके मुझे यह पता लगा। 'कालर बोन' की वह हड्डी साफ दिखलाई दे रही थी जिसका आपही ने तो 'आपरेशन' किया था।"

"तो फिर वह जिन्दा हो गई ?" गुप्ता ने उसी प्रकार आश्चर्य से कहा। वह इतना तो कह रहा था, पर मैं उसी प्रकार सज्ञा-विहीन सा खड़ा था।

"मैं उसके मस्तिष्क की परीक्षा ले रहा था।" डाक्टर राबर्ट कहने लगे—"कि एकाएक उसके सिर से रक्त की दो चार बूँदें निकलने लगीं। मैंने 'लोशन' से उसे धोकर साफ किया, तो न जाने कैसे उसके शरीर में मांस चढ़ आया। अब उस 'लोशन' का विश्लेषण करना होगा। मैंने उसे अभी लिटा रक्खा है। दुर्घटना के समय उसे जो चोट लगी थी अभी अच्छी नहीं हुई।"

"अभी अच्छी नहीं हुई !" गुप्ता ने मंत्र मुग्ध की तरह फिर डाक्टर राबर्ट के शब्द दुहराये।

"नहीं। चलिए आपको दिखलायें।" उन्होंने कहा। डाक्टर राबर्ट ने अंधेरी कोठरी के किवाड़ खोले। मेरा हृदय धड़कने लगा। आज मुझे अस्थिपिंजरों से भरे इस कमरे में जाने में भय होने लगा। पच्चीस वर्ष से अधिक हो गये हैं, कितने ही मनुष्यों की चीर-फाड़ कर चुका हूँ। साइप्रस में लड़ाई के समय हजारों मृतकों के बीच में तीन रात अकेला रहा हूँ पर कभी ऐसा डर नहीं हुआ।

"वह सो रही है धीरे से आइए।" राबर्ट ने कहा।

कमरा बिलकुल अन्धकार-मय था। मुझे कुछ सूझता ही न था।

मेज के समीप पहुँच कर उन्होंने ने कहा—"शीला, अरे तुम तो जाग रही हो।"

मेज पर कुछ सफेद सी वस्तु मुझे उस अंधकार में दिखलाई दे रही थी पर साफ-साफ कुछ न दिखलाई देता था। अब मैं मेज के बिलकुल समीप पहुँच गया।

"डाक्टर वकवर, आप देख रहे हैं?" राबर्ट ने पूछा।

"नहीं," मैंने और गुप्ता ने साथ ही कहा—"बहुत अँधेरा है। हमें तो कुछ भी नहीं दीखता।"

"आप तो अँधेरे के आदी नहीं हैं। फिर भी जरा इधर तो आइए देखिये, वह हँस रही है।" डाक्टर राबर्ट स्वयं हँसने लगे।

मेरी साँस मुझे ही भयभीत करने लगी।

वे कहते गये—"उसके चेहरे पर बिलकुल अन्तर नहीं है। उस दिन कलकत्ता जाने समय जो हँसी उसके मुँह पर थी, अब भी [illegible] है। शीला, तुम अब [illegible] होओगी।"

[illegible] ने मेज पर हाथ [illegible], कहा—"डाक्टर [illegible], देखो यह तुम्हारे लिए हाथ बढ़ा रही है।"

मेरा हृदय और जोर से धड़कने लगा। पसीना भी आ गया। मैंने आँख फाड़कर मेज़ पर देखा। एक लम्बी सी अस्पष्ट श्वेत वस्तु के अतिरिक्त मुझे कुछ भी न दिखलाई दिया। साहस करके मैंने पहिली बार कुछ कहा—

"डाक्टर, मैं तो कुछ भी नहीं देख सकता,—अँधेरा बहुत है।"

वे बड़े मधुर शब्दों में अंग्रेज़ी में बोले—"प्रिये, अगर रोशनी कर दूं तो तुम्हें कष्ट तो न होगा?" फिर उत्साह के साथ कहा—'नो'—वह 'नो' कहती है! चक्रधर, देखो, उसके स्वर में बिलकुल भी परिवर्तन नहीं हुआ। कलकत्ता जाते समय, सोलह जुलाई को मैंने तुम्हारे ही सामने तो पूछा था—'शैला तुम अकेली जा रही हो, कष्ट तो न होगा?' उसने कहा था—'नो डार्लिंग'। उस 'नो' और इस 'नो' में क्या कुछ अन्तर है? बिलकुल नहीं!"

मैंने कुछ उत्तर न दिया। वास्तव में मैंने उसे इस समय 'नो' कहते हुए सुना ही नहीं।

"अच्छा तो प्रकाश कर दूं!" कहते हुए डाक्टर राबर्ट ने बिजली का बटन दबाया। सारा कमरा जगमगा उठा।

"कितना सुन्दर! कितना सुख-मय!" कहते हुए डाक्टर राबर्ट नाच उठे—उछल-उछल कर बच्चों की तरह हँसने लगे। "तुम में शैला बिलकुल भी परिवर्तन नहीं हुआ—अरे मैंने तो देखा भी नहीं, वही वस्त्र जो कलकत्ते जाते समय पहिने थे।"

पर मैंने मेज पर देखा। वही नम्बर उनतालीस अस्थि-पिंजर वही सूखी सफेद हड्डियाँ, वही खुले विकराल दाँत, वही गोल गोल पसलियों का पिंजरा। बड़े भय और आश्चर्य से मैंने गुप्ता की ओर देखा, और उसने मेरी ओर।

७

कुत्ता

"हम, भारतीय विद्यार्थी जो विदेशों में रहते हैं, शायद अपने देश के समाचारों के विषय में अधिक उत्सुक रहते हैं और इसीलिये अपने देश का कोई भी समाचार किसी भी पत्रिका या दैनिक पत्र से बिना पढ़े नहीं जाने देते। बहुधा ऐसी अनेक घटनायें मैंने, जब मैं विदेश में था, भारत के विषय में पढ़ीं जो अब भी आप लोगों में से बहुतों को ज्ञात न होंगी। मास्को के लीओर्दी की एक कटिंग, अब भी मेरे पास पड़ी है और मैं अब तक कई एक को इसे सुना चुका हूँ। सम्भव है आप में से कोई मुझे बतला सके कि यह समाचार किस प्रान्त का था।"

इतनी भूमिका कह कर, हमारे आमंत्रित, विलायत से लौटे हुये, सहपाठी ने पढ़ा :—

"नई स्वास्थ्य-योजना के परिणाम का अध्ययन करने के लिये मुझे एक बार अपने सारे प्रदेश का भ्रमण करना पड़ा। अपनी कल्पना मात्र योजनाओं को कार्य रूप में देख कर और इतने से अल्पकाल में आशातीत सफलता देखकर मैं दंग रह गया। जनता ने मेरी 'स्कीम' को बहुत पसन्द किया। अपनी

इसी यात्रा के सिलसिले में, मैं और भी स्वास्थ्य सम्बन्धी संस्थाओं का, प्रदेश के स्वास्थ्य-मंत्री की हैसियत से, निरीक्षण कर लिया करता था। ऐसे ही एक चिकित्सालय का, जिसमें पागल कुत्ते के काटे हुए रोगियों की चिकित्सा होती थी, मैं निरीक्षण करने गया। पहाड़ी प्रान्त में बसा हुआ यह अस्पताल बड़ा ही रमणीक और दर्शनीय था मैंने कमरे-कमरे में जा कर रोगियों को देखा और उनसे बातचीत भी की। अस्पताल का अध्यक्ष अन्त में मुझे उस कमरे में ले गया जिसमें ऐसे रोगी रक्खे जाते थे जिनके आरोग्य होने की आशा जाती रही हो और जिनका अन्य रोगियों के साथ रखना आपत्तिजनक हो गया हो।

मैंने देखा—कोई बिल्कुल कुत्ते की आवाज में गुर्रा कर हू-हू कर रहा था तो कोई हमें देखते ही डर से टीं-टीं-टीं पुकारने लगा। मनुष्य की यह दयनीय दशा मेरे लिये असह्य सी हो उठी। रोगी लोहे की छड़ों के अन्दर अपनी-अपनी कोठरियों में चारपाइयों पर उल्टे-सीधे लेटे थे। उन्हीं के बीच, सामने की चारपाई पर पेट के बल एक युवक लेटा था। आयु बीस बाईस से अधिक न होगी। हमारे आने की आहट पाते ही वह उठ कर बैठ गया। अच्छा, स्वस्थ सा सुन्दर सुडौल चेहरा; बड़ी-बड़ी सुन्दर चमकीली आँखें; सिर पर घुँघराले बाल, वह अवश्य किसी सभ्य परिवार का सुशिक्षित युवक रहा होगा।

मेरे अध्यक्ष से कुछ पूछने के पूर्व ही उसने बड़े आदर से मेरा अभिवादन किया।

"आप स्वास्थ्य और शिक्षा के माननीय मंत्री हैं न?"—बड़ी नम्रता से उसने पूछा। सचमुच वह शिक्षित और सभ्य था। मैंने कहा—"हाँ; क्या तुम मुझे जानते हो? तुमने मुझे पहिले भी कभी देखा है?"

वह जँगले के पास बिलकुल मेरे निकट आ गया। "मैंने आपको देखा है। मैंने आपके विषय में पढ़ा है। मैंने आपके विचारों का विश्लेषण किया है। मैंने आपको सहायता देने का प्रयत्न भी किया है और मैंने—" व्याख्याता की भाँति वह एक ही साँस में बोल रहा था कि बीच ही में अध्यक्ष कह उठा—"तुम चुप रहो मिस्टर, माननीय श्रीमान्, यह युवक—"

"अब, अब! अब आप न बोलिये। आप चुप रहिये!"—युवक ने बड़ी व्यग्रता से कहा—"मुझे अपनी बात भी कहने दीजिये। आप बीच में बोलियेगा तो ठीक न होगा! आप निर्दय अन्यायी है, आप की समझ में मेरी बात नहीं आ सकती, मैं जान चुका हूँ। मुझे अपनी बात समाप्त करने दीजिये, तब आप के जी में जो आये सो मेरे विषय में कहिये।"

अध्यक्ष मेरी ओर देखता रहा। एक प्रकार के भय से मैं कुछ घबरा-सा गया। युवक के शब्दों में विलक्षण स्पष्टता और व्यग्रता भरी थी। मैं हट जाता लेकिन एक लोकप्रिय बनने का प्रयत्न करने वाले मन्त्री को—जनसेवक को क्या एक दयनीय रोगी के दो शब्द न सुनने चाहिये? यही सोच कर मेरे मुँह से निकल गया—"सुपरिंटेंडेंट साहब, उस बेचारे को कहने दीजिये, मैं उसकी कहानी सुनना चाहता हूँ।" और मैंने कुछ सँभल कर युवक से कहा—"मुझे समय कम है, आप संक्षेप में जो कुछ कहना हो कहिये।"

"धन्यवाद श्रीमान्!"—उसने कहना आरम्भ किया—"मैं उस दिन राजनैतिक [illegible] था। [illegible] प्रदेश के सांप्रदायिक [illegible] था कि—वास्तव में इन झगड़ों का मूल [illegible] है। मुझे आप के शब्द याद हैं: आप ने [illegible]

कलह हमारे प्रदेश की उन्नति में एक बहुत बड़ी बाधा है। प्रत्येक सभ्य और शिक्षित नागरिक का धर्म है कि इस सांप्रदायिक द्वन्द्व को—आपने द्वन्द्व ही शब्द का प्रयोग किया था मुझे ख़ूब याद है—समूल नष्ट करने में मंत्रिमंडल की सहायता करे। जनता के सहयोग के बिना मंत्रिमंडल प्रदेश में शान्ति स्थापित करने में कभी सफल नहीं हो सकता। जनता के मस्तिष्क से हमें इस प्रकार की फूट फैलाने वाली बातों को उखाड़ कर फेंक देना चाहिये। वास्तव में इने-गिने लोग ही ऐसे हैं जिनके मस्तिष्क विकृत हो गये हैं और वे ही छोटी-छोटी सी बातों पर भोली-भाली अशिक्षित जनता को भड़का देते हैं। आपके ये शब्द कि—इन विकृत-मस्तिष्कों से फूट फैलाने वाली बातों को उखाड़ कर फेंक देना चाहिये, मुझे ख़ूब जँचे। मैं उन दिनों अपनी ऐकेडमी में मनोविज्ञान की एक विशेष शाखा पर अनुसंधान (रिसर्च) कर रहा था। मुझे ज्ञात था कि किस प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क से कोई विशेष ज्ञान अथवा ज्ञान-कोष उखाड़ कर फेंक दिया जा सकता है। मैंने इस विषय में बहुत छान-बीन की थी।"

उसी दत्तचित्तता के साथ वह युवक कहता गया—"जर्मनी का एक सैनिक महासमर से घायल होकर लौटा था तो उसे कई दिनों तक एक अस्पताल में रहना पड़ा था। एक गोली उसके सिर के पिछले हिस्से में छेद कर गई थी। उस घाव के भरने में काफी समय लगा। वह सैनिक, उसका नाम था डेसीनसन, वह जासूस था और जर्मन, फ्रांसीसी और अँग्रेज़ी भाषा में अच्छी प्रकार बोल लेता था। हाँ तो, जब वह चलने-फिरने लगा, तो उसे ज्ञात हुआ कि वह अपनी पितृभाषा जर्मन को बिलकुल ही भूल गया था। वह अँग्रेज़ी और फ्रांसीसी में बात-चीत कर लेता और समझ भी लेता, पर जर्मन न अब उसकी समझ में आती

और न वह बोल ही सकता था। जर्मन डाक्टरों ने बतलाया कि इसका कारण यह है कि उसके मस्तिष्क के जिस भाग में जर्मन भाषा का ज्ञानकोष था, चोट लगने से वह नष्ट हो गया है। विश्वमित्र कौशिक नामक परिव्राजक ने मद्रास प्रान्त के एक जज के विषय में लिखा है कि, वे एक बार घोड़े से गिर पड़े और एक हलका सा घाव सिर पर हो गया। आरोग्य होने पर उन्होंने अपना काम आरम्भ किया तो ज्ञात हुआ कि उनके संस्कृत के ज्ञानकोष को क्षति पहुँची है। यह क्षति इतनी भयंकर न थी जितनी डेसीनमन की; पर वे अब देवनागरी के पवर्ग का उच्चारण नहीं कर सकते थे। जहाँ पर भी प, फ, ब, भ, म आवें वे अनायास ही क, ख, ग, घ, ङ पढ़ते थे। बोलने में भी यही दोष आ गया था। यह कोई उनकी नासिका, कंठ अथवा ध्वनि-सम्बन्धी तंतुओं (वोकल कॉर्ड्स) की अनियमित प्रेरणा से न होता था, किन्तु डाक्टरों की राय थी कि यह मस्तिष्क की ही क्षति का परिणाम है।

"चार वर्ष हुये, मैंने जब इस मनोविज्ञान की शाखा का अध्ययन किया था तो मैं स्वयं एक ऐसे ही आंशिक मस्तिष्क वाले मनुष्य को देखने दक्षिण के सुब्रह्म पास में गया था। [illegible] दुर्घटना में एक बालक के कान के पास एक कील चुभ गई थी। [illegible] ओंठों तथा [illegible] परिवर्तन हो गया था। [illegible] जिससे [illegible] से [illegible] थी, [illegible] गया था।

"[illegible] कि [illegible] के [illegible] [illegible] जाती है। [illegible] जाती है। [illegible]

का उल्लेख अपनी इस पुस्तक 'इनटर्नल टेकेनेलिटीज ऑफ ह्युमन माइंड विद पर्सनल रिसर्चेज' (मानव-मस्तिष्क की आन्तरिक रचना और अपने अन्वेषण) में किया है।" लपक कर उसने सामने की आलमारी खोली और एक बड़ी सी हस्तलेखों की फाइल मेरे सामने रख दी।

अध्यक्ष ने मेरी ओर देखा, पर मैं अब तक भूल गया था कि मैं मंत्रिमंडल का एक सदस्य हूँ। उस युवक की बातें बड़ी चित्ताकर्षक थीं और अपनी दत्तचित्तता में मैं भूल गया कि मैंने समय की कमी का बहाना भी किया था।

युवक ने फिर आरम्भ किया—"आपको समय कम है, नहीं तो मैं अपने सारे प्रयोग आपके सामने रखता। आपको बहुत धन्यवाद है कि आप मेरी बातें सुन तो रहे हैं। हाँ तो आपके वे शब्द कि—उनके मस्तिष्क से सांप्रदायिक कलह के कारण उखाड़ कर फेंक देने चाहिये—आपके व्याख्यान के उपरान्त भी मेरे मस्तिष्क में गूजते रहे। एक 'शिक्षित नागरिक' के नाते मैं भी इस काम में जुट गया कि किसी प्रकार मनुष्य के मस्तिष्क के उस भाग का पता लगाया जाय जिसमें सांप्रदायिक कलह की सी विकृत भावनायें रहती हैं। मैंने बहुत ढूँढ़-खोज की, बहुत सी विशिष्ट मनोविज्ञान की रूसी और जर्मन पुस्तकों को पढ़ा और मानसिक मनोविज्ञान के आचार्य औब्लिस्की को इस विषय में लिखा। इस समय संसार में बहुत कम लोग विज्ञान की इस शाखा को जानते हैं। फ्रॉइड का ज्ञान था सही पर, वह व्यावहारिक न था, आध्यात्मिक था; मैं था व्यावहारिक, स्नायु-तन्तुओं की खोज में [illegible] जिनको चीर फाड़ सके। [illegible] वास्तव में बहुत कम मनोवैज्ञानिक जानते हैं और [illegible] [illegible] लोग इसकी ओर आकर्षित होते हैं। [illegible]

को उँगलियों पर गिना जा सकता है। इसका सबसे अच्छा ज्ञान रूसी मनोवैज्ञानिक औब्लिस्की को है।

"औब्लिस्की का उत्तर इसी पुस्तक में है कि मस्तिष्क में जहाँ घृणा और अहकार का कोष है उसी के समीप इसका पता लग सकता है। हम दोनो ने मिल कर इस बात का बहुत प्रयत्न किया और अन्त में हमें उस स्नायु का पता लग गया जो जानवरों के इन दोनों, ज्ञान-कोषों का संचालन करती है। पासपार्ट समय पर न मिलने से मैं स्वयं आचार्य के पास इस स्नायु को ठीक-ठीक पहिचानने नहीं जा सका और मैंने स्वतंत्र प्रयोग करना आरम्भ कर दिया।

"मेरे पास टाइगर था; एक बड़ा सीधा, समझदार, स्वामि-भक्त कुत्ता। मैं चुपके-चुपके उसी के स्नायुवर्ग का अध्ययन करने लगा। औब्लिस्की के प्रयोगों के पूरे विवरण मिलने में देर हुई और मैं उस स्नायुविशेष का पता जल्दी से जल्दी पाने के लिये अधीर हो गया। उस बड़े से औद्योगिक नगर में दूसरे सांप्रदायिक दंगे ने मुझे और भी अधीर कर दिया। बड़ी उत्सुकता से मैं रात-दिन यही सोचता कि किस प्रकार शीघ्र से शीघ्र अपने प्रयोग प्रदेश की लोकप्रिय सरकार के सम्मुख रख दूँ और इस स्नायुविशेष का पता लगाकर किसी साइकोऐनेलिस्ट या साइकोपेथौलोजिस्ट (मनोवैज्ञानिक विश्लेषक अथवा [illegible]) से मिलकर ऐसी औषधि का आविष्कार करूँ जिसकी सुई लगाने से अथवा जिस चूर्ण या वटिका को निगलने से मनुष्य में सांप्रदायिक अहंकार और घृणा के भाव ही न रहें। इस दवा का अंग्रेजी नाम होगा ऐण्टी कम्युनल वैक्साइन या ऐण्टी कम्युनल टेब्लीन।

"तीसरी फरवरी को मैं उस रूसी वैज्ञानिक के प्रयोगों का विवरण पाने की आशा कर रहा था। औब्लिस्की ने उसे छपाई

डाक से भेजा था। पर दुर्भाग्यवश मुझे निराश होना पड़ा। पाँचवीं की शाम को जब मैं टाइगर की हड्डी-हड्डी टटोल रहा था कि एकाएक उसकी पीठ के बाम पार्श्व की पसली और छठी रीढ़ की गाँठ के बीच, जहाँ पर मुझे उस स्नायुविशेष के अस्तित्व का कभी विचार भी न था, मेरा हाथ जा लगा। मैंने उस स्थान को गुद-गुदाया और एक स्नायु मेरे हाथ आगई। मैंने फिर भली प्रकार उसे टटोलना चाहा पर एका-एक टाइगर को रोष आगया। उसकी आखे मेरी ओर ताकने लगीं। सचमुच उसकी आँखों में घृणा और अहकार का भाव था। मुझे अपनी इस सफलता पर बड़ी प्रसन्नता हुई। मैंने अपने विश्वास को पूर्ण तथा परिपक्व करने के लिए उस स्नायु को फिर पकड़ लिया, पर टाइगर का व्यवहार उस समय और भी क्रोध-पूर्ण हो गया। उसने मेरी बाँह पर दाँत गड़ा दिये, मैं चीख उठा। तुरन्त टाइगर एक घृणाकुल दृष्टि मेरी ओर फेंकता हुआ बाहर निकल गया। सचमुच वही स्नायु घृणा के ज्ञानकोष का संचालन करता था; नहीं तो टाइगर और उसका यह व्यवहार! वह मुझे बहुत चाहता था।

"मैं उसी समय टाइगर की खोज में बाहर निकला, पर वह नहीं मिला। मुझे तो अब उस स्नायु के स्थान का पूरा-पूरा पता मिल चुका था, अतः कोई भी कुत्ता सामने आ जाय मैं बता सकता हूँ कि वह स्नायु कहाँ पर हो सकता है। दौड़ कर मैं अपनी ही पास वाली गली में गया कि किसी बाहरी कुत्ते को पकड़ लाऊँ, पर पर बीच ही में लोगों ने, मूर्ख लोगों ने, मुझे रोक लिया। मेरी बाँह से रक्त अवश्य बह रहा था पर इससे क्या, मैंने उनको अपना उद्देश्य समझाना चाहा, पर किसी ने कुछ न सुना। मैं यहाँ भेज दिया गया। यहाँ की दशा, [illegible]
से आप जान सकते हैं। [illegible]

देखने तक को नहीं मिलता। कोई न कुछ सुनता है न बोलता है। मैं अपने देश भाइयों की कुछ भी सहायता नहीं कर सकता। मेरा अन्वेषण व्यर्थ जायगा। देखिये श्रीमान्, वह देखिए (उसने एक कुत्ते के बहुत बड़े चित्र की ओर संकेत किया जो दीवाल पर टंगा था) यदि वही चित्र जो सामने टँगा है मुझे मिल जाय तो अभी मैं उसकी काट-छाँट, डाइसेक्शन् कर आप को बतला दूँगा कि वह स्नायु कौन सा है।

"जो वह अगली टाँग है, उससे तीन इंच ऊपर, जहाँ पर गरदन जरा नीची हो गई है वहाँ से ठीक ढाई इंच गहरा एक छेद कीजिये तो बस ठीक उसी स्नायु पर पहुँच जायेगा। अध्यक्ष साहब, आप कृपा करके उसे उतरवा तो दीजिये! लाइये, मैं अभी उस स्नायु का संचालन कर आप को दिखला दूँगा। कुत्ता अभी पागल हो जायेगा। उसे मनुष्य के प्रति घृणा हो जायगी। वह कम्युनल हो जायेगा। होना ही चाहिये; वह घृणा और अहंकार का स्नायु है। लाइये साहब, मैं अपनी बात की सत्यता प्रकट करूँगा। आप तो सब समझ गये हैं, अब की बार यह कुत्ता भाग नहीं सकता; आपको डरना भी नहीं चाहिये, मैं उसे आपकी ओर बढ़ने न दूँगा। लाइये, मैं अभी आप को समझा दूँ...।"

एकाएक अपने दोनों हाथों के बल ठीक कुत्ते की भाँति बैठकर वह युवक जंगले के ऊपर उस चित्र को पकड़ने के लिये दीवाल की ओर कूदा और मूर्छित होकर फिर नीचे गिर पड़ा।

बाहर आते हुए अध्यक्ष ने कहा—"अब इसे किसी पागल खाने (मेण्टल हॉस्पिटल) में भेजना पड़ेगा।"

३

हड़ताल

वह स्वप्न देखता था; जागते में स्वप्न। कुर्सी पर बैठा है। एक सुन्दर रोमांचकारी यात्रा का वर्णन पढ़ रहा है और जल्दी में खुले हुए पृष्ठ के ऊपर पंक्तियाँ रेल की पटरियों की भाँति एक ओर सिकुड़ने सी लगीं। सारा पेज धुंधला और धीरे-धीरे अस्पष्ट बादलों से घिरे आसमान सा हो गया और रामप्रकाश कर्नल पीअरी के साथ उत्तरी ध्रुव की यात्रा करने लग गया। वहाँ नेनसन के साथ सफेद भालू हिम से ढँकी शिलाओं पर क्रीड़ा करते हुए दिखलाई देने लगे। और थोड़ी ही देर में रामप्रकाश तेज सनसन् करती हुई हवा में अकेला खड़ा रह गया। उसके साथी सब छूट गये। आज वह उत्तरी ध्रुव के बिलकुल निकट है, उसकी डायरी का आज का पृष्ठ इस प्रकार लिखा जायगा—'ठंडक बहुत है। पेन्सिल से लिखने का प्रयत्न कर रहा हूं। फाउण्टेन पेन में रोशनाई अवश्य होगी लेकिन निब पर उतरते ही जम जाती है, लिखा नहीं जाता। आज मैं [illegible] पूर्व की ओर बढ़ा। साथियों का कहीं पता नहीं। कल अचानक मैं से न जाने किस ओर चल दिये ।'

इसी प्रकार स्वप्न देखते-देखते रामप्रकाश ने अपने चाचा के साथ देहरादून में बीस जन्म दिन पार किये। मैट्रिक पास किया। इण्टर भी किया। विवाह भी हुआ और मिल में नौकरी भी लग गई। जीवन नद का प्रवाह ही बदल गया। न वह चंचलता रही और न वह उच्छृङ्खलता। पर वह स्वप्न देखना अब भी दूर न हुआ। अब भी बैठे-बैठे चलते-चलते स्वप्न देखने लग जाता है। लेकिन उनमें न अब राइट भाइयों की सी ऊँची उड़ान है न नेलसन का सा साहस।

उस दिन जब मजदूर सभा ने निश्चय किया कि हड़ताल जारी रहे तो वह मन मारे लौट आया। आज मशीनों की हल-चल, धुयें की फक्-फक् और करघों की सन्-सन् कुछ भी न थी। और न पहुआ बड़े-बड़े पहियों की घरपट घरपट ध्वनि से होने वाला संगीत ही था जो उसे इतना प्रिय था। आज सारा मिल बड़ा भयानक दैत्य सा, निर्जीव खड़ा था।

'न जाने कब तक यह हड़ताल रहेगी! कब तक सारा नगर इस प्रकार मुर्दा सा बना रहेगा! कब तक मजदूर अपनी माँगों के लिये इस प्रकार निरर्थक चिल्लाते रहेंगे!' सोचता-सोचता रामप्रकाश अपनी ऊँची साइकिल पर लौट रहा था। घर पर उसकी पत्नी है। इसी वर्ष जब पैंतालीस रुपया मासिक और उसके भी ऊपर 'आफिस एलाउंस' मिलने लगा है, तो वह अपनी स्त्री को तुलसीपुर से ले आया है। वहाँ गाँव में थी। ससुर के सत्तर बीघे जमीन थी। सारा काम घर की औरतें और मर्द ही करते थे। रात-दिन के अविराम परिश्रम का पुरस्कार मिलता—सास के ताने, विधवा ननद की बोलियाँ और ससुर की घुड़की। इस ओर रामप्रकाश भी सुखी न था। उसके आने के पहले एक गन्दे होटल में रहता था। जो कुछ मिलता वहीं उठ जाता था। और अब,

दिन भर के परिश्रम के उपरान्त, मिल से थका माँदा रँगे हुये हाथों और धूल जमे हुए कपड़ों में जब वह लौटता है—अपने किराये के मकान पर पहुँचता है तब दूर ही से उसकी दृष्टि उस खिड़की पर पड़ती है जिसमें रमिया, उसकी पत्नी उसके आने की प्रतीक्षा में खड़ी रहती है। घंटी का शब्द होने से पहिले ही वह जान जाती है कि वे 'मिल' से आ गये हैं। दरवाजा खुल जाता है। रामप्रकाश देखता है मेज पर गरम-गरम पकौड़ियाँ हैं तो, कभी सुन्दर नमकीन, कभी आलू के गुटके बने हैं, तो कभी हलवा और मिठाई। कमरे में बड़ी ठंढक है। फर्श धोया गया है। बर्तन करीने से कोने पर सजे हैं।

साइकिल खड़ी करके ज्योंही मुड़ता है तो रमिया हाथ में पानी और आँचल में अगौछा लिये मुसकराती खड़ी दिखलाई देती है।

रंग में रँगे हाथों को (राम प्रकाश मिल में रंगाई का काम करता है) वह भिगोता है और तब तक रमिया रंग साफ करने का वह चूर्ण ला कर देती है। जल्दी से रंग साफ हो जाता है और वह कुर्सी पर बैठ कर ब्यालू करने लगता है। सभी बातें कितनी सरल, कितनी मधुर और शीघ्रता से हो जाती हैं। पकौड़ियाँ सदा गरम-गरम रहती हैं। चाय ठंढी नहीं होने पाती। कमरे में कानपुर की वह काली-काली धूल जमने नहीं पाती जिससे होटल में पल्ला छुड़ाना मुश्किल हो गया था। और न दूध के ऊपर वह हरी-हरी परत भी ही दिखलाई देती है, न वह खट्टापन-सा ही जिन्हें वह शहर की 'साधारण बातों' का रूप दे कर अब तक संतोष कर लेता था। अब सब चीजें जैसा रामप्रकाश सोचता है, अपने वहीं सीमित, केन्द्रित स्वप्नों में ठीक वैसी ही उतर जाती हैं उसे कुछ कहना ही नहीं पड़ता। सब वस्तुओं में, सारे वातावरण में एक नया जीवन—एक नया उत्साह और नई ताजगी रहती है।

जब तक वह चाय पीता है रमिया पास ही स्टूल के सहारे खड़ी रहती है। रामप्रकाश खींच कर एक हाथ से उसे समीप ला कर आलिंगन कर लेता है। सकुचाई सी सिमिट कर वह बाँह के पास बैठ जाती है। जरा सा रामप्रकाश का हाथ ढीला हुआ कि खिसक कर पीछे खड़ी हो जाती है।

उस दिन जब वह घर पहुँचा। और तो सब ठीक वही नई स्फूर्ति और वही शान्त वातावरण था, पर रमिया कुछ डरी सी थी। रामप्रकाश रात्रि गया। अकेली चाय मेज पर थी और आज उसके साथ कुछ भी न बना था। होगा ही नहीं। उसी हड़-ताल के लक्षण हैं जिससे धधकती बादलों से बातें करती हुई बड़ी-बड़ी चिमनियाँ अब सोंस नहीं ले पाती हैं। न साइरन की सुबह की चीत्कार और न शाम को मिल से बाढ़ की तरह निकलने वाली कतार की किलकपी अब सुनाई देती है। एका-एक उसका मन अन्दर-ही-अन्दर खौलने सा लगा और अपने ही नेताओं के ऊपर उसे क्रोध आने लगा। दो मास से वेतन नहीं पाया। यह रमिया की ही मितव्ययता का फल था कि अब तक खाने पीने को निकल सका, और अब? गहरी चिन्ता से कुर्सी पर बैठते हुए उसने सोचा। रमिया की दशा कुछ और ही थी। पति के मुखां-कित भावों को पढ़ने में उसे देर न लगी। वह आज सहमी सी अलग-अलग उसके चेहरे की ओर नीची नजरों से ताकती रही।

चाय का एक घूंट पी कर रामप्रकाश ने कहा—"आओ, अलग क्यों खड़ी हो?"

डरी सी रमिया समीप आ गई। लजाते हुए बड़ी धीमी आवाज में उसने कह ही डाला—"और तो कुछ भी नहीं बना पाई।"

"क्या बनाओगी, कुछ रहा भी तो न होगा?" रामप्रकाश ने

कहा। उस के अन्दर मजदूर सभा के प्रबन्धकों और अपने नेताओं के प्रति उफान सा आ रहा था। वह बोल उठा—"न जाने इन लोगों को क्या हो गया है! साधारण-सी बातों के लिए तीन-तीन महीनों से भूखे मर रहे हैं फिर भी बुद्धि नहीं पलटती, न जाने कैसी समझ है! सारे शहर में शोक-सा छाया है। मिलों को देखकर भय-सा होता है। सभाओं में केवल हल्लै-गुल्लै के और कुछ नहीं होता; समझौते की कोई आशा ही नहीं। न जाने कब तक इस प्रकार भूखों मरना पड़ेगा! खाने-पीने की चीजें अब तो सभी समाप्त ही हो चुकी होंगी?"

"नहीं, अभी तो है ही, चार-पाँच दिन तक हो जायगी।" रमिया ने उदास हो कर कहा, मानो सारा दोष उसी का हो।

रामप्रकाश सोच रहा था—मैं तो सब सह लेता, पर यह बिचारी रमिया, इसका दुःख मुझ से नहीं देखा जाता। कब से सोचता हूँ कि इसके लिए एक मच्छरदानी ले आऊँ। चारपाई पर यों ही सोती है। कब से सोचता हूँ कि-चौका बर्तन करने को एक महरिन रख लूँ; पर वह भी न हो सका। बेचारी सभी कुछ सह लेती है। कुछ भी नहीं कहती और इधर दो-एक रोज में खाना तक न मिलेगा। वह सोच ही रहा था कि रमिया बोली—"थोड़ी सी दाल है। अभी-अभी भिगोई है—दिन में भिगोना भूल गई थी। उसी की नमकीन बना दूँ।"

"दाल अभी बना दोगी तो फिर रोटी कैसे खाई जायेगी?"

"थोड़ी सी बनाऊंगी बाक़ी सब शाम को रहने दूँगी। एक जने के लिए हो जायेगी। मुझे क्या चाहिए—मैं तो सूखी रोटी भी खा सकती हूँ।"

"तू सूखी रोटी खालेगी! भला मुझे क्या हो गया है। मुझे तो वे दिन याद हैं जब मैं और दादा साथ ही देहरादून में पढ़ते

थे। जाड़ों की छुट्टियों में सब लड़के अपने-अपने घर चले जाते थे। उन्हें ट्यूशन ही न मिलते थे। सारा जनवरी का महीना एक बार हमने पहाड़ी बाजरे की सूखी रोटियाँ खा कर बिताया। दादा के तालू में छाले पड़ गये थे।"

रमिया कहने लगी—"हमारे गाँव में भी यह चौथा साल है। बाढ़ आई थी। अनाज कुछ भी न उगा था। सारा चौमासा हमने कुम्हड़ा उबाल कर खाया।'

"ओ हो!"—राम प्रकाश हँस उठा—"अच्छा मैं उन सूखी रोटियों की याद करूँगा और तू उस कुम्हड़े की याद करना। बस, रोटी और तरकारी दोनों का प्रश्न हल हो गया!'

वह भी हँस पड़ी।

और शाम को सूखी रोटियाँ दोनों ने हँस-हँस कर प्रेम के साथ खाईं।

(२)

चार दिन हो गए थे। वे ही सूखी रोटियाँ शाम सुबह दोनों समय थीं। फिर भी दोनों प्रसन्न थे। लेकिन जहाँ दोनों अलग हुए रमिया चौका बर्तन के काम में लगी और रामप्रकाश बाजार की ओर चला तो दोनों एक दूसरे के दुःखों पर चुपचाप आँसू बहा लेते। वह सोचता, मैं उसके लिए कुछ न कर सका; कुछ भी सुख आराम उसे नहीं दे पाया। वह सोचती, यह सब मेरे ही कारण हुआ। मेरी ही तकदीर का तो यह फल है। क्या मेरे ही यहाँ आने पर उन्हें यह दुःख उठाना था! पर फिर जहाँ वह लौट कर आया और वह दरवाजे पर उसके सम्मुख नीची आँखें किए खड़ी हुई कि उनका दुःख न जाने कहाँ चला जाता है।

शाम को रमिया ने एक ही रोटी खाई, न जाने कैसे यह रामप्रकाश को मालूम हो गया। वह समझा, बिना साग तरकारी

के उससे न खाई गई होगी। उसने इसका कारण भी पूछ डाला। रमिया ने कह दिया—"मुझे भूख ही कम लगी थी। नहीं तो जब आप सूखे-सूखे खा लेते हैं तो भला मुझे क्या हो जाता है ?"

पर बात यह न थी। अब तक तो साग और तरकारी का प्रश्न था। अब आटा चावल भी समाप्त होने को था। अगर वह अपने आप भी भर पेट खा लेती तो सुबह को रह ही क्या जाता ?

दूसरे दिन जब भोजन बना तो रमिया ने इमली की चटनी बनाई और वही सूखी रोटियाँ तो रमिया ने उसकी थाली में साथ ही परस दी। उनके खा चुकने पर रमिया ने दो और उसकी ओर बढ़ा दी। उनको भी खा कर उसने पानी पिया और फिर बोला—"चटनी तो बड़ी अच्छी बनी है। ला तो एक रोटी और खा लूँ।"

रमिया ने एक रोटी, जो थाली के बीच ढकी थी, निकाल कर दे दी। रामप्रका को कुछ अचरज तो हुआ। क्योंकि आज तक जब कभी वह एक रोटी के लिए कहता तो उसे दो रोटियाँ मिलती थीं। और दोनों उसे विवश होकर खानी पड़ती थीं। खैर उसे भी खा गया। और बोला—"आज कुछ भूख भी ज्यादा लगी है। बहुत थक गया हूँ। लाओ तो एक और सही। जब से तुम आई हो मेरी भूख दूनी हो गई है। होटल में मैं दिन भर चार रोटियाँ खाता था। लाओ।"

रमिया चुप ! कहे भी क्या ? रोटी तो अब थी भी नहीं और न आटा ही था। मोल लेने को पैसे भी न थे। देर होती देख रामप्रकाश ने स्वयं ही थाली उलट कर रोटी निकालनी चाही, पर वहाँ कुछ भी न था !

जब वह उठा तो उसका एक बड़ा-सा आँसू थाली पर गिर गया। पर इससे क्या रमिया का पेट भरता ! हाँ, उसका हृदय

अवश्य भर गया। उसका दिल धड़कने लगा। वे क्रोधित न हो जायँ। जल्दी में हड़बड़ा कर उसने कहा—"नहीं, नहीं, मुझे तो भूख भी न थी।"

जल्दी से कुर्ता पहिनते हुए रामप्रकाश कितनी ही बातें सोचने लगा—अभी बाजार जाता हूँ। उसके लिए फल ले आता हूँ। तरकारी लाता हूँ। आटा ले आऊँगा। ब्रह्मानन्द तो है। क्या वह एक रुपया भी उधार न देगा। दादा के सामने प्रण किया था कि कभी ऋण न लूँगा। पर इस समय दादा की आत्मा भी तो रमिया के दुःख को नहीं देख सकती। अगर ब्रह्मानन्द ने न भी दिया तो बड़े बाबू तो हैं। कहने भर की देर है, फौरन उनकी स्त्री अन्दर जा कर ले आयेगी। मुझे अपना-सा बेटा समझती है।

चल दिया। रमिया कहती रही—"अभी कुछ जल्दी नहीं, थोड़ी देर बैठ तो जाइये—अभी खाना खाया है। शाम तक फिर जहाँ कहीं जाना हो जाइयेगा। मैंने तो कह दिया, मुझे भूख बहुत कम है। आप व्यर्थ दुख उठा रहे हैं।" पर उस समय तक उसकी साइकिल शायद ग्वालटोली से भी आगे चली गई थी।

ब्रह्मानन्द ने कहा—"क्या बताऊँ ऐसे मौके पर आये! बड़ा लाचार हूँ। इसी महीने इन्श्योरेंस का प्रीमियम भेजना पड़ा। बीस रुपया भाई को देने पड़े। बहिन आ गई। पहिली बार उसे भी खाली हाथ कैसे भेजते! औरत का मामला ठहरा। सारे कपड़े बनाने पड़े! जोड़कर लगभग सौ रुपये का टोटल पता। सत्तर रुपये तनख्वाह और सौ खर्च!"

कुछ कहने की हिम्मत नहीं पड़ी। सोचा—अब चल दूँ। कहना व्यर्थ है। फिर भी उसने कह ही डाला—"मैं तो केवल एक दो रुपये माँगने आया हूँ। इतना तो फिर भी हो सकेगा। क्या बताऊँ, ऐसे ही कुछ काम पड़ गया।"

ब्रह्मानन्द के मन में आया कि एक रुपिया तो माँगता है बेचारा; दे दे। फिर भी न जाने क्या थोड़ी-सी अड़चन आ गई। सिगरेट जला ली। कुछ देर चुप रहे। जेब टटोलते हुए कहा—"इतना भी मुश्किल से दे सकूँगा। कैश तो पास कभी रहता ही नहीं। तनख्वाह आई और बिल चुकाये। फिर उधार पर काम चला।" देने की इच्छा अब भी थी, पर इतना ही था कि रामप्रकाश के ऊपर कुछ ऐहसान और पड़ जाय।

इधर रामप्रकाश सोच रहा था—'भूखी रमिया! कल शाम उसने एक ही रोटी खाई। न जाने उससे पहिले भी वह कब से अपना पेट काटकर मुझे खिलाती रही है। आज उसके लिए सूखी रोटी का एक टुकड़ा तक नहीं! धिक्कार है मेरे जीवन को! मैं अब कौन-सा मुँह लेकर लौटूँ? वह बोल उठा—"अच्छा आठ ही आने, चार ही आने, जो कुछ जुटे दे दीजिये।"

ब्रह्मानन्द ने समझा मामला कुछ गड़बड़ है और झट बोल उठा—"क्या बताऊँ इस समय बड़ा लज्जित हूँ। कुछ भी नहीं दे सकता। कल तक आइये तो मैं फिर देखूँगा।"

रामप्रकाश चल दिया। बड़े बाबू के घर पर पहुँचा तो ताला बन्द! वे सपरिवार प्रयाग चले गये थे।

एक-दो जगह और भी इसी प्रकार व्यर्थ प्रयत्न करके वह रोनी-सी सूरत बना कर मन मारे साइकिल पर पाँव चला रहा था। न जाने किधर जा रहा था और किस लिये। वह स्वप्न देखने लगा—कोई ऐसी बात हो जाती जिससे मुझे अचानक सौ रुपये मिल जाते। मैं रमिया को खुश कर देता। अभी तरह-तरह की मिठाइयाँ, मेवे, फल उसके लिए ले जाता। आज ही उसके लिए मच्छरदानी आ जाती। महरिन का प्रबन्ध हो जाता सुन्दर वस्त्रों से आज ही 'रणजीत' में हम फर्स्ट क्लास में फिल्म

देखते। उसे सिनेमा देखने का कितना शौक है! साइकिल पर पाँव चल रहा था और आँखें चलचित्रों पर थीं। 'फुसफुस-फुसफुस सिनेमा के बड़े हॉल में वह रमिया को समझा रहा था किसी ने पुकारा—"अरे बाबू जी!" उसने सुना ही नहीं।

वह सोच रहा था—हाय, अभी कहीं से अचानक दस ही रुपये मिल जाते। एक नोट ही यहीं जमीन पर गिरा रद्दी कागज की भाँति उड़ता मिल जाता। मेरा काम बन जाता, जब कभी इस प्रकार की निराशापूर्ण घटनायें हो जातीं तो वह ऐसे ही स्वप्न देखने लगता था। माँ के मरने पर उसने सोचा था, हाय! कोई ऐसी बात हो जाती कि वह फिर जाग उठती। और तब कुल पाँच ही वर्ष का था। कई दिनों तक वह यही सोचता रहा कि शायद वह फिर आ जाय। शिवजी की उस मूर्ति के ऊपर गंगा की तरह आकाश से उतरती हुई जिसका चित्र पिता की बैठक में था। फिर दादा के एकाएक फेल हो जाने पर वह रात दिन सोचता कि फिर अखबार में दादा का नाम आयेगा। फिर गजट में 'ऐराटा' में छपेगा और फिर लोग कहेंगे—वे भला फेल हो सकते थे! परीक्षकों की गलती थी। पर उसे सदा निराश होना पड़ा। न माँ ही आकाश से कूद कर आई न दादा ही फिर कभी उत्तीर्ण हुये। पर उसने फिर उसी प्रकार की आशा करना भी न छोड़ा।

"बाबू रामप्रकाश साहब!" किसी ने पुकारा। मुड़ कर उसने देखा।

साइकिल पर डाकिया था। "रामप्रकाश, ३५ परमट ..आप ही का तो मनीआर्डर है।" साइकिल से उतरते हुए एक हाथ से सलाम करते हुए और दूसरे से साइकिल और मनीआर्डर का फार्म थमा कर डाकिया ने कहा।

"मेरे नाम! कहाँ से? अच्छा?"

"इलस्ट्रेटेड वीकली के १३७ पज़ल का पुरस्कार। तीन गलतियों पर, ग्यारह रुपया तीन आना।"

'हाँ, मेरा ही है।" उसने कहा।

एक महीने से भी अधिक हो गया। उसे याद भी न रहा कि बड़े बाबू के विवश करने पर एक "एन्ट्री" उसने भी भेजा था।

(३)

कुछ दिनों फिर दोनों बड़े आनन्द से रहे। अच्छे अच्छे कपड़े पहिन कर छः छः आने की सीट पर बैठ कर उन्होंने फिल्में देखीं। मच्छरदानी भी आई। पर हड़ताल जारी रही। मिल में जाना फिर भी बन्द रहा। उसकी बेकारी उसे खलती रही। चिमनियों की साँसें, साइरन की चीत्कार फिर भी बन्द रही और धीरे-धीरे वे ही दिन पलट गये। फिर धीरे-धीरे पैसों की कमी हुई और एकाएक एक ऐसा मनहूस सोमवार आया कि आटा साग, तरकारी, दाल और पैसे एकाएक साथ ही समाप्त हुये!

"अब ?" दोनों सोचने लगे। रमिया ने बर्तन टटोल कर बताया कि थोड़े से चावल हैं। अभी चिन्ता की बात नहीं, शाम तक फिर भगवान् मालिक हैं। "बस ठीक है। बनाओ! सूखा चावल भी अच्छा लगता है। शाम तक फिर देखा जायगा।"—उसने कहा। वह सोच रहा था—'ओरियंट में एक पहेली का उत्तर भेजा है। और एक इलस्ट्रेटेड वीकली में, किसी का उत्तर तो आज के पत्र में छपेगा। एक में तो दो से अधिक त्रुटियाँ हो नहीं सकतीं। एक हजार तक पुरस्कार मिलेगा। और इलस्ट्रेटेड वीकली चार दिन का परिश्रम है, सब मिलाकर सात उत्तरों को देख कर पहेली भरी है। तीन से ज्यादा गलती कभी निकल नहीं सकती। तीन भी हो गईं तो पचास रुपया नकद और एक

रिस्टवाच रक्खी रखाई है। उसे मैं रमिया को दूँगा।' वह चावल धो रही थी। उसने उसकी उन सुनहरी गोल-गोल कलाइयों की ओर देखा, फिर उस परी लगी इनाम की घड़ी को। दूसरे ही क्षण वह सिनेमा हाल में उसके साथ बैठा था। फिर गंगा में थिरकती हुई नौका पर। रमिया ने उसके गले में हाथ डाल रक्खा था। फिर वह मिल में काम कर रहा था। इंजनों की धरपर-धरपट, चिमनियों की फक् फक्, साइरन की लम्बी सी पुकार!

उसके लौटने का समय था। रमिया बैठी थी। आज उसने न चाय बनाई थी, न कुछ खाने को ही। चीनी भी तो समाप्त थी। खाली चाय और दूध से होता ही क्या! सोचा—जा कर वर्माजी की बहू से इस समय के लिये माँग लाऊँ। पर इतने ही में उसे ध्यान हुआ। हरे ब्लाउज की जेब में जो रुपया था उसका क्या हुआ? उसका भाई जाते समय उसे दे गया था। उसे तो उसने अभी तक खर्च ही नहीं किया। ओ हो, यह कैसी भूलती है! याद तक नहीं रही।

खिड़की से देखा—वे आ गये है। साइकिल खड़ी हो गई।

"रमिया, क्या बताऊँ!" उसने एक अजीब शब्द रख दिया। कभी सोचा भी न था। पाँच गलतियाँ हो गई। अब तो आशा भी जाती रही।

रमिया देखती रही। रामप्रकाश का चेहरा उतरा था। इसके अतिरिक्त उसकी समझ में खाक भी न आया।

'अगर वह 'चड्डे' किसी का भी सही न निकला तो फिर भी उम्मेद है। लेकिन....'' वह चुप हो गया, उसने देखा, रमिया नहीं सुन रही है। उसका ध्यान ही उस ओर नहीं है।

"अच्छा आज तो चाय बनी न होगी। क्या करूँ मुझे तो ऐसा हो गया है..."

"नहीं अभी बनाये देती हूँ। बैठिये।"

"कहाँ से, है भी कुछ ? मेरा तो भाग्य ही ऐसा है। अब तो सूखी रोटियाँ भी न मिलेंगी। रमिया, मुझसे तुम्हारा दुःख देखा नहीं जाता।"

रमिया हँस रही थी और हँसती हुई अन्दर गई। अपना बक्स खोला। हरा ब्लाउज़ निकाल कर बाहर लाई।

"देखिए मदारी का तमाशा। एक-दो तीन ! रुपिया !"

पर यह क्या ? उसकी जेब खाली थी ! बिलकुल खाली !

"उस रुपये का तो मैंने इलस्ट्रेटेड वीकली को मनीआर्डर कर दिया था— परसों।"— अपराधी की भाँति रामप्रकाश ने कहा।

४

वैज्ञानिक की पत्नी

नलिनी ने कमरे में प्रवेश किया। अभी डाक्टर बोस प्रयोग-शाला से न आये थे। कमरा सुनसान था। किताबें मेज पर कुछ खुली और कुछ किताबदान पर खड़ी थीं। मेज के एक कोने पर बहुत-से वैज्ञानिक विषयों के, भिन्न भिन्न देशों के, समाचार पत्र जर्नल्स आदि रखे थे। एक दूसरी छोटी-सी मेज पर घड़ी पाँच बजा रही थी। नलिनी ने मेज पर सबसे ऊपर रखी सफेद कागज की एक कापी उठाई। वह डाक्टर बोस के अपने प्रयोगों का, जिन्हें वे उन्हीं दिनों कर रहे थे, विवरण था। नलिनी ने उसे लेकर मेज के कपड़े के नीचे छिपा दिया।

थोड़ी ही देर पीछे डाक्टर बोस आ गये। नलिनी ने चाय का प्याला लाकर मेज पर रक्खा और नौकर ने फलों की एक तश्तरी।

डाक्टर बोस ने चाय पीते हुए कहा—"शम्भू, किताबें तो ले आओ।"

नौकर ने किताबों का बड़ा सा बण्डल, जिसे डाक्टर बोस प्रयोगशाला से उसी समय लाये थे, मेज पर ला रक्खा। बोस

ने चाय का प्याला नीचे किया और उन बड़ी-बड़ी पुस्तकों में से एक को खोल कर पढ़ने लगे।

थोड़ी देर में नलिनी फिर आई। उसकी चाल से और वस्त्राभूषणों से कवियों के मस्तिष्क में अनेक प्रकार की उपमायें और रूपक अनायास ही आ सकते थे, पर बोस को उसका आना भी न ज्ञात हुआ।

धीरे से मेज पर दोनों हाथ रखकर झुकते हुए उसने कहा—"चाय तो पी लीजिये!"

उसके शब्दों में माधुर्य और वाणी में रस भरा था। डाक्टर ने पुस्तक पर से आँखें उठाईं। नलिनी हँस रही थी। चाय का एक घूँट पीकर फिर उसे मेज पर रख दिया और वे कुछ ढूँढने लगे। मेज की पुस्तकें उलटने-पलटने लगे। फिर उन समाचार पत्रों को एक-एक करके उठाने लगे, पर उनके नोट्स की वह सफेद कापी न मिली।

तब उन्होंने पुकारा, "नलिनी!"

नलिनी वहीं किवाड़ पकड़े खड़ी यह सब कुछ देख रही थी। मन्द-मन्द हँसी से उसने कहा—"कहिए?"

बोस बोले—वह सफेद कापी जिसमें हम बहुधा लिखा करते हैं, कहाँ है?"

नलिनी ने कहा—"मुझे क्या मालूम?" और स्वयं भी ढूँढने का बहाना करने लगी।

डा० बोस कहने लगे—"उसमें मेरे तीन महीने के सभी प्रयोगों का वर्णन है। बड़ी जरूरी चीज है। देखो, लाइब्रेरी में तो नहीं है।

नलिनी लाइब्रेरी में चली गई और खाली आलमारियों को ढूँढने सी लगी। डा० बोस ने हैट पहिना और जल्दी से साइकिल ढूँढने लगे। पर साइकिल भी वहाँ न थी।

"नलिनी !" उन्होंने फिर पुकारा। "साइकिल कहाँ है ?"

नलिनी ने कहा—"शायद नौकर ले गया है।"

"ओह !" डाक्टर बोस ने कुर्सी पर हैट रखते हुए कहा—"जाने कितनी देर में आयेगा !" फिर बोले—"मुझे ऐसा खयाल है कि शायद मैं उस कापी को प्रयोगशाला में ही छोड़ आया हूँ।" और चट से उन्होंने हैट पहिन लिया और कहा—"पैदल ही जाकर ले आऊं।"

नलिनी ने कहा—"क्यों, यहीं कहीं रक्खी होगी, मिल ही जायगी और यह चाय तो बिलकुल ठंडी हो गई !" और चाय मेज से उठाते हुये उसने कहा—"आज रहने दीजिए, आप तो रोजही लिखते रहते हैं। आज न भी सही। इतनी चिन्ता की क्या बात है ? मिल ही जायगी।

डाक्टर बोस ने कुछ भी उत्तर न दिया। वे जल्दी से किवाड़ें खोलकर फाटक से बाहर निकल गये। सौभाग्यवश उसी समय शम्भू साइकिल लेकर आ गया। तब डाक्टर बोस सीधे प्रयोग-शाला को चले गये। नलिनी कुछ भी न कर सकी।

* * *

डाक्टर बोस भौतिक और जीवन-विज्ञान के बड़े होनहार विद्वान हैं। केवल बीस वर्ष की आयु में उन्हें अपनी अपूर्व वैज्ञानिक मौलिकताओं के लिये डाक्टर की उपाधि मिली थी। उनके 'जीवन और भौतिक विज्ञान' नामक प्रबन्ध ने विज्ञान संसार में खलबली मचा दी थी।

नलिनी और डाक्टर बोस का विवाह हुए लगभग एक वर्ष हो चुका था पर नलिनी ने जिस सुख का चित्र अपने वैवाहिक जीवन का खींचा था वह सब अब असम्भव सा जान पड़ रहा था। उसमें रूप था, यौवन था; पर डाक्टर बोस के लिये पुस्तकों

और प्रयोगशाला के अतिरिक्त संसार निस्सार था। जब वे ठीक पाँच बजे प्रयोगशाला से आते तो नलिनी बनठन कर उनके पास पहुँचती, हँस-हँस कर बातें करती, पर बोस को पुस्तकों के अतिरिक्त कुछ सूझता ही न था, उन्हें नलिनी से बोलने को ही समय न मिलता था। कभी कुछ बोलते भी तो बस उन्हीं पुस्तकों के विषय में।

नलिनी उनके लिए सुंदर भोजन बना रखती, अच्छे-अच्छे फल मँगवा रखती; पर वह सब मेज पर ज्यों का त्यों रखा रहता था। डाक्टर बोस को याद आ गई तो कभी एक दो टुकड़े पढ़ते-पढ़ते मुँह में डाल लेते थे, नहीं तो वे शम्भू के ही हाथ लगते थे! नलिनी सुन्दर वस्त्रों को पहिन कर उनके आने के समय की प्रतीक्षा में उनके कमरे में बैठी रहती थी। आते ही हँसती हुई कहती—"आज तो आप देर में आये!" बोस "हाँ" कह देते, या बहुत हुआ तो—"नौकर से किताब लाने को कह दो!" कह देते।

उस दिन नलिनी ने सोचा कि—अगर आज कापी छिपा दूँ तो जरूर कुछ न कुछ बातें करने का अवसर मिलेगा ही, पर फल इतना भयानक हुआ कि डा० बोस को प्रयोगशाला में जाना ही पड़ा। वह कमरे में आई और जल्दी चादर के नीचे से वह कापी निकाल कर ऊपर रख दी। न जाने अब आकर क्या कहेंगे! यही डर उसे हो रहा था। कि थोड़ी देर में, डाक्टर बोस ने हाँफते हुए कमरे में प्रवेश किया और कहा—"कुंजियाँ तो जाना तो भूल ही गया!" पर सेज पर कापी देखकर हँसते हुए बोले—"अरे, तुमने पा लिया इसको!" और झट कुर्सी पर बैठकर पढ़ने लग गये। यह भी न पूछा कि—"तुमने इसे कहाँ पाया!"

इधर नलिनी को अपना जीवन नीरस और शुष्क ज्ञात हो रहा था, उधर बोस वैज्ञानिक संसार में नई-नई उपाधियों से विभूषित किये जा रहे थे। नलिनी का अधिकांश समय रोते-रोते बीतता था और बोस अपना समय प्रयोगशाला में पले चूहे, मेढकों और बिल्लियों को हलाने में बिता रहे थे। नलिनी डाक्टर बोस को जरा भी अपनी ओर आकर्षित न कर सकी। वह बचपन से ही बड़ी चंचल और हँसोड़ थी; पर बोस के वैज्ञानिक जीवन पर उसकी चंचलता का कुछ भी प्रभाव न हुआ। कितनी बार वह सोचती—'आज उन्हें अवश्य हँसा दूँगी और किताब भी न पढ़ने दूँगी।' पर ज्योंही वह बोस के सम्मुख जाती, उनकी गम्भीर मुद्रा देखती, उसका साहस जाता रहता। यदि नलिनी कुछ हँसी की बात कह भी देती तो या तो वह डाक्टर बोस के कानों तक पहुँचती ही न थी, या बोस उस हँसी की बात को समझ ही न सकते थे। पुस्तक से आँख मुश्किल से ही उठती होगी।

धीरे-धीरे वे प्रयोगशाला में ही अपना अधिक समय बिताने लगे। पहिले तो ठीक पाँच बजे शाम को आ जाते थे, अब कभी-कभी सात बजे तक वहीं रहने लगे। एक दो-बार तो नलिनी को बड़ी चिंता हुई; क्योंकि वे दस बजे तक प्रयोगशाला से न लौटे। नलिनी को नौकर भेज कर उन्हें बुलाना पड़ा। घर आकर भी उनका खाने-पीने की ओर बिलकुल ध्यान ही न रहता था।

अन्त में, प्रयोगशाला में रहने की आदत उनकी यहाँ तक बढ़ गई कि शम्भू को रोज दस बजे जाकर उन्हें बुला लाना पड़ता था। बहुत दिनों तक यही हाल रहा। और तब एक दिन दस बजे घर आकर उन्होंने नलिनी से कहा कि—"मेरा खाना शम्भू के हाथ वहीं भेज दिया करो।"

अब डाक्टर बोस कभी दो-चार दिन बाद घर आते थे,

वह भी अपनी लाइब्रेरी से पुस्तक ले जाने के लिये।

शम्भू को तीनों समय डाक्टर बोस के लिए प्रयोगशाला में ही भोजन ले जाना पड़ता था। और नलिनी घर में बैठी-बैठी अपने भाग्य को कोसती थी। या फिर डाक्टर बोस की लाइब्रेरी में बैठी उन वैज्ञानिक पुस्तकों के पन्ने उलटा करती। डाक्टर बोस को रोज ही घर बुलाने के लिए वह अनेक प्रयत्न करती, पर सब निष्फल हो जाते थे। वह, उन चिट्ठियों और समाचार पत्रों को जो घर के पते पर आ जाते थे प्रयोगशाला में न भेजती ताकि डाक्टर बोस को स्वयं आना पड़े। मिलने वालों को रोक कर नौकर को प्रयोगशाला भेजती कि डाक्टर बोस को बुला लावे, पर यह सब धीरे-धीरे व्यर्थ-सा होने लगा। समाचार पत्रों और चिट्ठियों का घर पर आना बंद सा हो गया। लोग मिलने भी प्रयोगशाला में ही जाने लगे।

❁ ❁ ❁

उस दिन नलिनी स्वयं भोजन लेकर प्रयोगशाला में चली गई। उसे डर था कि डाक्टर बोस क्रोधित होंगे—आश्चर्य में पड़ जायेंगे, पूछेंगे, तुम यहाँ क्योंकर आ गईं! पर बोस अपने ही प्रयोग में मस्त थे। नलिनी ने पत्थर की मेज पर खाना रक्खा और धीरे से डरती-डरती बोली—"लीजिए, खाना ले आई हूँ।"

डाक्टर बोस बिजली के तारों से बाहर निकले और खड़े-खड़े खाना खाने लगे। उन्हें नलिनी को देखकर कुछ भी विस्मय न हुआ, मानों रोज ही की साधारण सी बात हो। नलिनी प्रयोग-शाला में पले उन चूहे, बिल्ली और कबूतरों को देखने लगी एक बड़े से, तारों से जकड़े वृत्ताकार चुम्बक के नीचे एक बड़ा-सा चूहा पींजरे में रखा था। नलिनी ने कौतूहलवश उस पींजरे को

अपने हाथों से उठा लिया कि बड़े जोर से 'घर्र-घर्र' की आवाज़ होने लगी और एक बड़ी सी चिनगारी चुम्बक के एक कोने से दूसरे सिरे तक जोर का शब्द करती हुई कूद गई। घबड़ाकर बोस ने पीछे की ओर देखा, नलिनी थर-थर काँप रही थी और उस पीजड़े को ज़मीन पर डरते डरते रख रही थी।

डाक्टर बोस ने बड़े आश्चर्य से कहा—"नलिनी-नलिनी, क्या तुमने उस पीजड़े को उठा लिया? क्या तुम १,५०० वोल्ट दबाव की विद्युत धारा को सह सकती हो!" और जल्दी-जल्दी उन्होंने सारे पींजड़े की परीक्षा की, वोल्ट-मापक से धारा नापी—ठीक १,४१७ वोल्ट थी। डाक्टर बोस की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। वे कमरे में पागलों की तरह नाचने लगे। और "नलिनी, तुम में अपूर्व शक्ति है, अपूर्व शक्ति है!" कह कर चिल्लाने लगे। और वे कहने लगे—"नलिनी, मैं इन जीवों पर प्रयोग कर रहा हूँ कि किस प्रकार मृत्यु की समस्या हल हो सकती है। जब मनुष्य वृद्ध होने लगता है तो उसके सेल सब सिकुड़ने लगते हैं और धीरे-धीरे नष्ट होने लगते हैं। यदि किसी प्रकार मनुष्य को अपने शरीर के सचालन के लिये अपने भोजन की गर्मी पर निर्भर न रहना पड़े और उसके शरीर में विद्युत् से ताप की मात्रा ठीक रक्खी जाय तो प्रायः सभी रोग नष्ट हो जायेंगे। क्योंकि फिर मनुष्य को भोजन पर निर्भर ही न रहना पड़ेगा। यही प्रयोग मैं इन जीवों पर कर रहा था। यह चूहा तीन सप्ताह से भूखा है और इसके शरीर में इस बड़े विद्युत् चुम्बक से ताप का संवाहन और सञ्चारण किया जा रहा है। मैं रोज़ इसके रक्त की परीक्षा करता हूं। यह देखो, यह इसके रक्तकणों (cells) की वृद्धि का रेखा-चित्र (graph) है। इस सप्ताह में ये प्रति दिन दो एनग्ष्ट्रोम घटे, लेकिन मैंने इस सप्ताह में बिजली की धारा

का दबाव ११५० से १५७० वोल्ट कर दिया और उसके रक्त कीटाणु अब स्थिर हैं। देखो ग्राफ का यह सिरा बिलकुल सीधा है। तीन दिन से तो चूहा अमर हो गया, ऐसा ज्ञात होता है। मैं मनुष्य पर भी यही प्रयोग करना चाहता था, पर आदमी बड़ी कठिनता से २०० वोल्ट विद्युत धारा को सहन कर सकता है। सैक्षबुल ने अपनी पुस्तक में लिखा है कि—मनुष्य के रक्त कणों के लिए कम से कम २,००० वोल्ट की आवश्यकता है। नलिनी मुझे आज बड़ा ही हर्ष है कि मैं इतना भाग्यशाली हूँ कि मुझे तुम जैसी अपूर्व शक्तिवाली पत्नी मिली। तुम अभी १,५०० वोल्ट सहन कर सकती हो। यदि प्रतिदिन पाँच वोल्ट भी अधिक सहने का अभ्यास करो तो हमें कुछ ही महीने में सफलता मिल जायेगी। नलिनी, मैं तब मनुष्य को अमर बना सकने का प्रयोग अपनी सभा के सम्मुख रख सकूँगा। क्या तुम मुझे सहायता देने को तत्पर हो ?"

नलिनी ने हँसते हुए कहा—"अवश्य, मेरे लिए इससे अधिक सुख का विषय हो ही क्या सकता है !" आज मानो नलिनी को वह सुख मिला जिसके लिये वह इतने दिनों से तरस रही थी, आज उसे वह शान्ति मिली जिसके लिए वह वर्षों से छटपटा रही थी। ओह ! उसका पति स्वयं उसकी ओर आकर्षित हुआ है।

❁ ❁ ❁

अब नलिनी को रोज आठ दस घंटे एक बड़े विशाल चुम्बक के नीचे बैठना पड़ता था। डाक्टर बोस उसका मन बहलाने के लिए तरह-तरह के उपाय करते थे। कभी रेडियो खोल देते, कभी समाचार पत्र पढ़ने लगते और कभी स्वयं गुनगुनाने लग जाते। रोज शाम को नलिनी की उंगली से एक दो बूँद रक्त को निकाल कर रक्त-कीटाणुओं की परीक्षा लेते।

पाँच ही महीने में नलिनी २००० वोल्ट तक की धारा सहने लगी। और रक्त-कीटाणुओं में धीरे-धीरे परिवर्तन घटने लगा। पर नलिनी बहुधा अपने को बहुत कमजोर भी ज्ञात करने लगी, फिर भी वह डाक्टर बोस से कुछ भी न कहती। उसे डर था कि यदि डाक्टर बोस प्रयोग करना बन्द कर देंगे तो फिर मेरा जीवन उसी प्रकार नीरस और शुष्क हो जायगा। बहुधा डाक्टर बोस कहते, "नलिनी, आज कल तुम बहुत ही सुन्दर दिखलाई देती हो। मैं तो सोचता हूँ कि यह उसी विद्युत् धारा का प्रभाव है। क्या इस प्रयोग के पूर्व भी तुम ऐसी ही थी।"

नलिनी कुछ न कहती। चुम्बक के नीचे बैठने में उसे विशेष कष्ट न होता था। हाँ पसीना कभी-कभी आ जाता था। पर रोज-रोज सुई से छेद कर रक्त की बूँदें निकालने से तमाम उँगुलियों के सिरे बड़े ही कुरूप हो गये थे। उनसे अब कोई वस्तु छुई भी न जाती थी। जब बोस दिन भर की तपस्या के बाद, रक्त की परीक्षा के लिये एक बूंद खून उन उँगुलियों से निकालने का प्रयत्न करते थे तो यह उसके लिए बड़ा ही दुखदायी लगता था। पति कहीं रुष्ट न हो जाय, इसीलिए वह हँसते-हँसते उस असह्य पीड़ा को सह लेती। उसका भोजन भी कम होता गया, डाक्टर बोस उसे कम खाते देख कहते—"नलिनी, जब तुम्हारा भोजन बिलकुल ही बन्द हो जायेगा और तुम्हारे शरीर के सभी यंत्र विद्युत से चलने लगेंगे, उसी दिन हमें विजय मिल जायेगी!

एक महीने के बाद, नलिनी २,१५० वोल्ट तक सहन करने लगी। उसका शरीर सूखने लगा। रक्त निकालने की क्रिया उसे बहुत ही असह्य होने लगी। एक दो बार उसने विवश होकर उस पीड़ा से बचने के लिए डाक्टर बोस से कहा भी कि—मुझे आज बहुत निर्बलता प्रतीत होती है। पर बोस कहने लगे—"हाँ, अब

कुछ दिन ऐसा अवश्य होगा, क्योंकि रक्तकण अपनी आदत बदल रहे हैं। अब वे ऑक्सिजन की ताकत छोड़ कर विद्युत धारा को ग्रहण कर रहे हैं।"

❀ ❀ ❀

ठीक १६६ दिन में रक्त-कीटाणुओं की वृद्धि का ग्राफ सीधा हो गया। अब प्रयोग का एक ही दिन बाकी था। बोस अपने फलों को प्रकाशित करने भेजने वाले थे। उस शाम को बोस ने नलिनी की अँगुलियों से रक्त की बूँदें निकालने का प्रयत्न किया और कितनी ही कोशिशें की, पर फिर भी रक्त की एक बूँद न गिरी। उन्हें निश्वास हो गया कि आज सारे शरीर के रक्त में परिवर्तन हो गया। स्थिरता आ गई है और नलिनी अमर हो गई है। उनकी प्रसन्नता का ठिकाना न था।

उसी समय टेलीफोन देकर उन्होंने अपने शिवालय और अन्वेषण विभाग के तमाम विद्वानों को बुलाया। एक ही घंटे में दस बारह विद्वान उपस्थित हो गये। डाक्टर बोस ने नलिनी की अपूर्व शक्ति का विवरण देते हुए अपने सारे प्रयोगों को उन्हें समझाया। स्वयं अन्वेषण विभाग के अध्यक्ष डाक्टर ऐडिंगटन से उन्होंने नलिनी के रक्त-कणों की परीक्षा करने को कहा, पर रक्त तो अब निकलता ही न था। अपने प्रयोगों की सत्यता प्रकट करने के लिए यह अत्यंत आवश्यकीय था कि, कम से कम एक छोटा सा रक्त बिन्दु कहीं से नलिनी के शरीर से निकाला जाय। अन्त में उन्होंने नलिनी से हँसते हुए कहा—"यदि शिरा (Artery) में एक छेद कर दिया जाय तो अवश्य रक्त निकलेगा।" नलिनी कुछ न कह सकी।

तब डाक्टर बोस ने हाथ की आर्टरी (शिरा) में एक छेद किया। खून बह निकला और उसी समय नलिनी ने शिरा को

ओर से दबा कर रक्त बहना बन्द कर दिया। डाक्टर ऐडिंगटन रक्त कणों की परीक्षा करने लगे। और सभी विद्वान तल्लीन हो कर उस महान् आविष्कार को देखने लगे। नलिनी की ओर किसी का ध्यान भी न रहा! वह रक्त-प्रवाह को रोक नहीं पा रही थी, उसने अपनी साड़ी के किनारे से हाथ को बाँध लिया। और धीरे धीरे तमाम साड़ी रक्त से भीग गई। और उसका सिर धीरे-धीरे कुर्सी पर लुढ़क गया।

प्रयोग के समाप्त होने पर ऐडिंगटन ने आविष्कार की भूरि भूरि प्रशंसा की और नलिनी को 'धन्यवाद' देने के लिए उसकी ओर देखा, पर वह उस समय तक 'अमर जीवन' पा चुकी थी।

पूजा

'मुझ से न होगा, मुझ से न होगा !' वह सोच रही थी। उसके हाथों में नवजात बालिका थी। दो बार हृदय कठोर करके और साहस बटोर कर उसने उस बालिका को—जिसे प्रकाश देखे कुछ ही घड़ियाँ बीती थीं—मार डालना चाहा; पर उसके हाथ दोनों बार रुक गये। वह सोचने लगी—'हाय, यह कितनी सुन्दर है। कितनी प्यारी लगती है! नहीं, मैं इसे नहीं मार सकती !' और उसकी आँखों से आँसू बह कर उस बालिका के ऊपर गिर पड़े। तब तक बालिका रो उठी। मारे भय के उसका शरीर काँप उठा। एक बार हाथों को फिर कड़ा करके दाँतों को पीसकर उसने तकिये को उठाया कि बालिका के ऊपर मार दे और उस पाप की कृति का सर्वदा को अन्त कर दे; पर हाथ फिर भी रुक गये बालिका भी चुप हो गई।

वह सोचने लगी, क्या कोई अन्य उपाय नहीं? 'नहीं, लोग क्या कहेंगे? मेरी रोटी बन्द हो जायगी। नर्स की लड़की! मिस जेनी की लड़की!

* * *

मिस जेनी नर्स थी। अल्मोड़े शहर के चौधरी मुहल्ले में रहती थी। यह मुहल्ला गाँव और शहर की सीमा पर था। इसकी गलियाँ अल्मोड़े शहर की भाँति तंग और लम्बी न थीं। पास के मटियाले गाँव की भाँति मैली और दुर्गन्धमय भी न थीं। चौड़े और स्वच्छ आँगन थे; पर घरों के अन्दर अन्धकार रहता था। पानी के लिए नल न थे। बस दो,एक कुएँ और बावड़ियाँ थीं। मिस जेनी मुहल्ले के उस कोने पर रहत थी जो शहर के समीप था। उसका छोटा सा दुमंजिला मकान था, जिसमें वह सालभर में नौ महीने अकेली रहती थी और शेष तीन महीने उसके दो छोटे भाई आगरा से आ जाते थे।

शहर और देहात में उसका आदर समान था। जब डाक्टर रावन मालूसिंह की स्त्री की दशा देखकर घबरा गये और उसका जीना दुर्लभ समझकर छोड़ आये तो मिस जेनी ने खुद जाकर मरे बच्चे को निकालकर मालूसिंह की स्त्री को मरते मरते बचा लिया। तभी से गाँव में उसका बहुत आदर हो गया था। वह ईसाई थी, पर गाँव वाली स्त्रियाँ उस से खूब हिलमिल कर बातें करतीं और अपने दुःख सुख उसे सुनातीं।

हाँ, मिस जेनी को गर्भ रह गया। वह एक लम्बी कथा है। लाख प्रयत्न करने पर भी उसे वह नष्ट न कर सकी। तब उसने इधर-उधर बुलावों में जाना छोड़ दिया। दो महीने पहिले नौकर को भाइयों के साथ आगरे भिजवा दिया। अपने आप सब काम करने लगी। अपने नीचे के कमरे में उसने रहना छोड़ दिया ताकि कोई बुलाने भी आये तो लौट जाये।

बालिका को जन्म लिए कुछ घड़ियाँ बीती थीं कि किसी के पैरों का शब्द सुनाई दिया। शब्द धीरे-धीरे बढ़ता गया और फिर दरवाजे पर 'ठक्-ठक्' शब्द भी होने लगा।

'मिस साहिबा !' खट-खट करते हुए किसी ने पुकारा।

भयभीत होकर वह उठने लगी। शरीर में बल न था, आँखों के आगे अँधेरा छा गया। वह चारपाई पर बैठ गई।

"खट-खट"—"मिस साहिबा !"

वह रो भी न पाई थी कि ससार उसकी खोज में लग गया। वह सोच रही थी, इन चार महीनों तक किसी ने मुझे बुलाया नहीं। आज इस कुघड़ी में कौन मुझे बुलाने आ गया? क्या लोगों को मेरा पाप ज्ञात हो गया?

सीढ़ियों से अब वह 'खट खट' करने वाला दुमंजिले पर चढ़ आया। "खटखट" "मिस साहिबा" !"

हार कर नर्स ने कहा—"कौन है?"

वह बोला—"आप को शेरसिंह के घर बुलाया है; चलिए, जल्दी से ! भावज की हालत बहुत खराब है !"

उसके मुँह से निकल पड़ा—"चलो, मैं आती हूँ।"

वह बोला—"मैं खड़ा हूँ, जल्दी कीजिए।"

नर्स बोली—"नहीं-नहीं, तुम चलो, मैं सामान ठीक करती हूँ। दस मिनट के अन्दर आती हूँ।"

फिर जल्दी-जल्दी उसने टोकरी में अपना सामान रक्खा और रुई के बंडल में उस बालिका को लपेटकर अपनी टोकरी में रख लिया कि रास्ते में किसी झाड़ी में फेंक दूँगी। बालिका का शरीर रुई के समान ही श्वेत था। टोकरी हाथ पर लेकर वह गाँव की ओर चलने लगी। पाँवों में बल न था। दस-दस पग चलकर रुक रही थी। हाथ काँप रहे थे। डर था, कहीं टोकरी हिल गई तो प्राण निकल जायेगी ! अभी डूब मरना पड़ेगा। कुछ दूर जाकर उससे न चला गया; तब वह बैठ गई। पास ही झाड़ी थी। देखने लगी कि, कोई इधर से आता तो नहीं है। पर, ज्यों ही

उसने रुई पर लिपटी उस बालिका पर हाथ लगाना चाहा, एक लड़का हाँफता हुआ आ पहुँचा, बोला—"मिस साहिबा, क्यों बैठी हो, अब तक क्यों नहीं आई ! चलो, चाचा बुलाते हैं।"

मिस ने कहा—'अरे,वह आदमी, जो मुझे बुलाने आया था, न जाने कहाँ चला गया। मैंने तो घर देखा ही नहीं है।" और उठकर वह धीरे-धीरे लड़के के पीछे होली। रास्ते में लड़के ने पूछा—"नर्स साहिबा, शेरसिंह काका कहते है कि अगर आज तेरा भइया पैदा होगा तो तेरे लिये साइकिल ला देंगे और अगर बहिन होगी तो कुछ नहीं। तुम बतलाओ तो क्या होगा—भइया या बहिन ?"

नर्स कुछ न बोली। उसे होश ही न था कि वह किधर जा रही है। पाँव चल रहे थे, पर चेतनाहीन मशीन की भाँति।

❁ ❁ ❁

प्रसूता को होश आया। उसने पूछा—"क्या लड़का ?"

नर्स न बोल सकी। शेरसिंह की बुढ़िया माँ आगई, बोली—"नर्स साहिबा, तुम लाख बरस जियो। अच्छा हुआ बहू की जान बच गई। क्या हुआ ? लड़का है या लड़की ?"

नर्स के मुँह से निकल पड़ा—"दोनों।

बुढ़िया ने देखा—एक गेहुए रंग का बालक था, दूसरी रुई पर रक्खी श्वेत दूध सी लड़की। हँसते हुए बुढ़िया ने कहा—"देखो ईश्वर की माया ! कैसे अलग-अलग रच दिए ! लड़का बाप सा साँवले रंग का है और लड़की माँ जैसी गोरी। शेरसिंह के भाग खुल गये। मिस साहिबा, लोग कहते हैं, माँ के अनुहार की लड़की और बाप के अनुहार का लड़का बड़ा भाग्यशाली होता है। शेरसिंह के जुड़वाँ सचमुच बड़े भाग्यशाली हैं। एक वर्ष भर देवी के मंदिर में दिया जलाने का यही तो फल हुआ।"

(२)

तीन वर्ष बीत गए। शेरसिंह के उन जुड़वाँ बालकों में अब लड़की ही शेष रह गई है। लड़के की मृत्यु तीन मास पीछे ही हो गई थी। पर लड़की, धनवती, सुन्दर खिले हुए गुलाब सी अब शेरसिंह के सारे घर को अपनी तोतली वाणी से गुँजाये रखती। गाँव भर के लोगों को वह प्यारी थी, सब की गोद में बैठ जाती, सब बच्चों से हिल-मिल जाती और सब का जी बहाला रखती। गाँव वाले कभी धनवती के लिये कुछ लाते और कभी कुछ। सब को अपनी नीली आँखों, सुनहरे बालों और सुन्दर वस्त्रों से वह प्रसन्न कर देती थी। शेरसिंह के और सब बड़े बच्चे मर गए थे। एक इसी धनवती से वह धनी था। यही उसकी एक मात्र आशा और यही एक-मात्र सुख था।

मिस जेनी नर्स तो धनवती पर जान देती थी। कभी उसके लिए सुन्दर फ्राक ले आती और कभी रेशमी जम्पर। कभी मीठे-मीठे चाकलेट ले आती और कभी सुन्दर गुड़ियाँ। धनवती उसके आते ही "मिछाप आ गई, मिछाप"! कहती उछलती-कूदती नर्स की गोद में बैठ जाती। कोई दिन ऐसा न था जब मिस जेनी खाली हाथ आती हो। वह अपना काम-काज छोड़कर घंटों धनवती के साथ खेला करती। उसके लिये गुड्डे-गुड़ियाँ सी देती और तरह-तरह के खिलौने बना देती। कभी शेरसिंह और उसकी पत्नी काम-काज से इधर उधर चल देते तो मिस साहिबा और धनवती ही घर पर रह जातीं।

उस दिन नर्स के आते ही शेरसिंह की स्त्री ने कहा—"मिस साहिबा, गाँव में गंगा का ब्याह है। मैं हाथ बटाने जा रही हूँ—शाम तक लौटूँगी। तुम तब तक अगर चली जाओ तो धनवती को मेरे पास पहुँचा जाना।"

नर्स ने कहा—"हाँ-हाँ मैं यहीं रहूँगी। अगर जाऊँगी भी तो उधर होकर जाऊँगी।"

मिस साहिबा ने इस बीच धनवती के साथ तरह-तरह के खेल खेले। गुड़ियों के लिए खाना बनाया। घास के पेड़ों से गिरे दाड़िम के लाल-लाल फूलों की बारात बनाकर गुड्डे और गुड़िया का ब्याह किया कुछ चाकलेट गुड्डे और गुड़िया में बाँटी गई और कुछ उन दोनों ने आपस में बाँट खाई। इतनी देर हो गई, पर फिर भी न शेरसिंह ही लौटा और न उसकी खबर ही।

धनवती ने पूछा—"सिष्टाप, इजा कहाँ है? मुझे इजा के पास पहुँचाओ।" नर्स की आँखों में आँसू भर आए। उसने कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप सजलनेत्रों से धनवती की ओर टकटकी लगाए देखती रही। धनवती उसे रोती देख बोली—"सिष्टाप, पापा कहते हैं कि रोनेवाले को हम पसन्द नहीं करते; तुम क्यों रोती हो? चलो सिष्टाप, इजा के पास ले चलो।"

नर्स ने अपने हैंड बैग में से एक सुन्दर रूमाल निकाल कर धनवती को दिया। धनवती उसे पकड़ कर पूछने लगी—"मेरे लिए है या गुड़िया के लिए।"

नर्स ने हँसते हुए कहा—"चिड़िया के लिए।"

"कौन है तुम्हारा चिड़िया, सिष्टाप?" उसने रूमाल को असावधानी से हिलाते हुए कहा।

नर्स ने कुछ रुक कर धीरे से धनवती को अपनी गोद में बिठलाकर मुँह चूम लिया और कहा—"यह है मेरी चिड़िया!" पर एकदम उसकी आँखें डबडबा आईं।

धनवती उदास हो गई, उसकी गोद से उठ गई और कहने लगी—"मैं इजा की चिड़िया हूँ। चलो, इजा के पास पहुँचाओ।"

नर्स ने उन्हीं आर्द्र आँखों से धनवती की ओर देखकर कहा—

"अच्छा धनी, अगर मुझे एक बार 'माँ' कह कर पुकारेगी तो पहुँचा दूँ।"

धनवती ने फिर क्रुद्ध होकर कहा—"नहीं मेरी माँ तो हजा है। चलो, मुझे वहीं पहुँचाओ।"

नर्स की आँखों से दो-चार बूँद आंसू गिर पड़े। उसने फिर उसी मन्द स्वर में कहा—"धनी, अगर मुझे एक बार माँ कह दे तो मैं तुझे अभी पहुँचा दूँ। कहो, कितनी अच्छी बिटिया है! कहो, माँ! मुझे वहाँ पहुँचा दे।"

धनवती रोने लगी, और दोनों हाथों से दनादन मिस की पीठ पर मारते हुए कहने लगी—"चलो, मुझे पहुँचाओ। चलो, चलो, चलो! मिससाब छि छि है, मिससाब गधा है, मिससाब उल्लू है, मिस साब काला है। चलो चलो।"

उसी समय शेरसिंह ने लकड़ी का बोझ आगन में धड़ाम से गिराया। कुल्हाड़ी कोने पर रखकर वह अन्दर गया। उसने देखा धनवती और मिस साहिबा दोनों रो रही हैं।

(३)

बारह वर्ष बीत गये। धनवती का विवाह पास के एक गाँव के प्रधान के लड़के नरसिंह से हो गया। धनवती का मन ससुराल में न लगता था; बचपन से ही लाड़ प्यार में पली वह ससुराल में बड़ी दुःखित रहने लगी। उसके सास-ससुर, देवर-जिठानियाँ सभी थीं, पर वह मिस का दुलार न था। गाँव के प्रधान की साठ सत्तर बीघे जमीन थी। काम करते नाकोंदम था। देवरानियाँ, जेठानियाँ हर समय उसको डाँटती रहतीं कि तुम काम करने में जी क्यों नहीं लगातीं? क्या बैठे-बैठे रोटी मिल जायेगी? वह फिर काम में जुट जाती, पर मिस साहिबा की याद आते ही उसका जी पैर हिलाने तक को न करता।

एक दिन मिस साहिबा उस गाँव में आ गईं। अब वह बूढ़ी हो गई थी। बाल पक कर श्वेत हो गये थे। एक हाथ में लाठी थी और दूसरे में हैंड बेग। कमर कुछ झुक गई थी। देखते ही धनवती दौड़कर उसके पास चली गई और फूट-फूट कर रोने लगी। वह भूल गई कि मैं ससुराल में हूँ। मिस साहिबा ने अपने हैंड बेग को खोल कर उसे कुछ मिठाइयाँ दीं और एक साड़ी, और धनवती से सास-ससुर आदि के विषय में अनेक प्रश्न किये। उसकी आँखें भी आर्द्र थीं। थोड़ी देर बाद वह चली गई। उस दिन किसी भी काम में धनवती का मन न लगा। सास ससुर ने खूब धमकाया, पर वह रोती रही और कुछ काम न कर सकी। आखिर सास ने पूछा—"कौन थी वह बुढ़िया, तेरी क्या होती है? बड़ी दुलार वाली आई!"

धनवती ने कहा—"मेरी क्या लगती है, कुछ भी नहीं, वह तो ईसाई है! हमारे घर आया करती थी।"

सास मारे क्रोध के लाल हो गई। उसी समय भीतर जाकर उसने प्रधान से कहा—"जानते हो वह बुढ़िया कौन थी?"

प्रधान ने चौंक कर कहा—"नहीं, धनवती के मायके से तो आई थी। क्यों?"

सास ने कहा—"अरे ईसाई है, ईसाई! न छूत न छात, बस अब तो डोम ही बन गये!"

धनवती को उसी समय नहाने की आज्ञा मिली और मिस जेनी को तरह-तरह की गालियाँ मिलीं। शिबिया की माँ ने कहा—"हाँ देखो, धनवती सुबह तक तो किस तरह मन लगाकर काम कर रही थी। न जाने क्या-क्या सिखा गई कि बेचारी का मन अब बिलकुल काम करने में नहीं लगता। धनवती तो मुझसे कह रही थी कि वह बुढ़िया मिस है। मैं तो तभी समझ

गई थी। अई प्रधानी, मैं तो इन ईसाई मिसों-विसों से बड़ी डरती हूँ। वह मिस लार्सन, जो धर्म की पुस्तकें बाँट जाती थी, एक दिन मुझसे कहने लगीं 'तुम पत्थरों को क्यों पूजती हो? ये तो पत्थर है, देवता कहाँ?' उस दिन से मैंने उससे बोलना ही बन्द कर दिया। ये सब हमें ईसाई बनाने आती हैं।"

● ● ●

कुछ दिनों बाद मिस साहिबा फिर आगईं, पर आज लड़कों ने उसे दूर भगा दिया। प्रधान के घर तक पहुँचने भी न पाई थी कि शिविया की माँ ने रास्ता रोक कर कहा—"चलो, यहाँ मत आओ! हम अपने गाँव में ईसाइयों को नहीं घुसने देते।"

बुढ़िया रो कर कहने लगी—"मैं धनवती को देखने आई हूँ।"

शिविया की माँ ने कड़क कर पूछा—"वह तुम्हारी क्या लगती है? यों ही ससुराल मे लड़कियों का मन बिगाड़ती हो!"

बुढ़िया रो रही थी और सोच रही थी—धनवती मेरी क्या लगती है! उत्तर होंठों पर था लड़की, सगी लड़की! पर निकल न सकता था। उसने सोचा—अगर कह दूँ कि धनवती की माँ हूँ तो कौन विश्वास करेगा। सभी मुझे पागल बनायेंगे। और मान लिया विश्वास भी कर गये तो—आह, ईसाई की लड़की, हिन्दू के घर! मेरा और उसका सत्यानाश हो जायेगा! बुढ़िया की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। वह लौट चली। पाँव लड़खड़ाने लगे। रास्ते भर खेतों में धान काटने वाली, पयाल बटोरने वाली, जंगल से लकड़ी लाती हुई जितनी लड़कियाँ मिलतीं उन सब को वह ध्यान से देखती, आँखें फाड़-फाड़ कर देखती रहती, पर वह धनवती का गोरा-गोरा मुँह कहीं न दीखता था। क़रीब एक कोस चली होगी कि वह अपने को बहुत थकी मालूम करने लगी। एक लड़का पीछे से आया, बुढ़िया को देखकर बोला—

"मिस साहिबा, कहाँ जाओगी ?" वह लाठी टेक कर खड़ी हो गई। लम्बी-लम्बी साँसे चल रही थीं, पसीना बह रहा था। उसने कहा—'शहर'। लड़के ने कहा—"चलो, मैं भी चल रहा हूँ।"

वे दोनों साथ-साथ हो लिए। बुढ़िया के पाँव सीधे न पड़ते थे। लड़के ने कहा—"तुम इस तरह झुक-झुक क्यों चलती हो? और तुम्हारा मुँह तो बिलकुल नीला हो गया है! बड़ी थकी हो—लाओ, यह हाथ का बोझ मुझे दे दो। कितनी दूर से आई हो?"

बुढ़िया की सांसें तेज चल रही थीं, वह कुछ न बोल सकी। उसने हैंड बैग लड़के को दे दिया। कुछ दूर चल कर वे दोनों एक पेड़ के नीचे बैठ गये। लड़के से उसने कहा—"हैंड बैग में प्याला है। पानी कहीं से लादो, फिर चलेंगे।" लड़का थोड़ी देर में पानी ले आया। उसने कहा—"तुम कुछ आराम करो। मैं उधर खूब बड़े हिसालू (फल) देख आया हूँ, थोड़ी देर में आऊंगा।"

'हाँ', कह कर बुढ़िया वहीं पत्थर पर लेट गई। लड़का झाड़ियों में हिसालू खाने लगा। दोनों जेब, हिसालू से भरकर वह लौटा। पर बुढ़िया फिर भी न उठी। लड़के ने कहा "चलो, अब देर हो जायेगी, चलते है।"

पर बुढ़िया ने उसी तरह लेटे-लेटे कहा—"तुम जाओ, मैं न जाऊंगी। मुझे किसी और ने बुलाया है।"

लड़का हँसता खेलता चल दिया। वह सोच रहा था, इतनी बुड्ढी होने पर भी लोग इस नर्स को बुलाते ही हैं! कहती है—किसी ने बुलाया है!

(४)

सूर्य्य डूब गया था। गायों के झुंड के झुंड गाँवों की ओर लौट रहे थे। वह सड़क के किनारे वहीं पर बैठी थी। ग्वालों की

पक्षियों को वह देख रही थी। उनकी बातों को सुन रही थी। कोई धनवती के विषय में कुछ तो कहेगा! पर नहीं वे गायों के विषय में बातें कर रहे थे—'इस श्यामा के थन तिरछे हैं, सब से अधिक दूध देती है। काली के पाँच थन हैं, पाँचों से दूध निकलता है। धौली के चार थनों में एक काना है, तीन ही से दूध निकलता है; आदि।' थोड़ी देर में जंगल से घास लानेवाली स्त्रियों का एक बड़ा-सा झुंड उधर से निकला। वह उनके मुखों को न देख सकी। उनके सिरों पर बड़े-बड़े हरे बोझ थे। उनकी बातों को वह ध्यान से सुन रही थी, पर धनवती के वे मीठे बोल उसे नहीं सुनाई दे रहे थे। बुढ़िया उठ गई। एक हाथ में लाठी और एक में हल्ड बेग लेकर वह खड़ी हो गई। पर शहर की ओर उसके पाँव बढ़े ही नहीं। वह फिर उसी धनवती के गाँव की ओर चलने लगी। उस गाँव के समीप आते-आते बिलकुल अन्धकार छा गया। वह चोर की तरह प्रधान के घर की ओर मुड़ गई। डर था कि कोई कहीं देख न ले। मकान के पीछे जाकर वह उस बड़े अखरोट के पेड़ के नीचे छिप गई और अन्दर की बातें सुनने का प्रयत्न करने लगी। गुनगुनाहट सुनाई दे रही थी। उस अस्पष्ट बातचीत में धनवती के शब्द भी मिलते जान पड़ते थे। पर साफ कुछ सुनाई न देता था। छत में अनाज डालने के लिये सीढ़ियाँ लगी थीं। उसी सीढ़ी से वह छत पर चढ़ गई। दबे पाँव उस कोने तक चली गई जहाँ से बातचीत सुनाई दे रही थी। छत में वहाँ पर धुँये के लिये एक छेद था और ठीक उसी के नीचे रसोई थी। कान लगाकर वह सुनने लगी। अपने कपड़े को सँभालने में उससे एक ढेला नीचे खिसक गया, आँगन में गिरा और बड़े ज़ोर का शब्द हुआ। "चोर-चोर!" कहते हुए वे लोग बाहर आये। मारे डर के बुढ़िया

भागने लगी, पर वहीं छत पर उसका पैर फिसला और वह धड़ाम से आँगन में गिर गई। बड़ी-बड़ी लकड़ी की मशालें लेकर लोग आ गये। धनवती भी बाहर आई। नर्स को देखते ही—"ओ इजा, ओ इजा, नर्स!" कहकर उससे लिपट गई। बुढ़िया ने मरते-मरते आँखें खोलीं। होंठ हिल रहे थे, शायद वह कुछ कह रही थी पर शब्द न निकलते थे, फिर वे होंठ कुछ अजीब ढङ्ग से खुले और उसी क्षण उसकी आँखें निस्तेज हो गईं। शिबिया की माँ ने कहा—"कहाँ की बुढ़िया, कहाँ हमारे घर मरने आई! अभी पटवारी को खबर देनी होगी।"

प्रधानी ने कुछ समीप जाकर कहा—"अरी, यह बुढ़िया हँस रही है या मर गई!"

❁ ❁ ❁

दूसरे दिन पटवारी ने आकर देखा और कहा—"हमने किसी मरे हुए आदमी के चेहरे का इतना शान्त और हँस-मुख नहीं देखा!"

६

दो रेखायें

उस फोटोग्राफ के प्लेट और दस के दसों बिलकुल साफ। किसी में चित्र नहीं आया। बीस दिन से उस प्रयोग को वह दुहरा रहा था, पर फिर भी रुथेनियम नामक उस नये आविष्कार किये हुए तत्व का रेखाचित्र (स्पेक्ट्रम लाइन) उससे नहीं निकल रहा था। विलसन, बिलेरकी और उसे, साथ ही, उन तीनों नव आविष्कृत पदार्थों का रेखाचित्र निकालने को कहा गया था। विल्सन ने तो दस दिन में ही 'लालस' नामक तत्व का, जो उसे अन्वेषण के लिये दिया गया था, चित्र निकाल कर दे दिया। बिलेरकी के ओड्म का भी चित्र निकल चुका था, अब उसे धोना और छाप कर देना ही शेष रह गया था। पर राय बीस दिन के लगातार प्रयत्न करने पर भी चित्र ही न निकाल सका।

विलसन, बिलेरकी और राय तीनों डाक्टर चेडविक की अन्वेषण-शाला में काम करते थे। चेडविक की प्रयोग-शाला में काम करना ही एक बड़े गौरव की बात थी। नेदर नामक स्पेनिश वैज्ञानिक ने तो तीन वर्ष तक उसकी प्रयोग-शाला में शीशियों और यन्त्रों को साफ करने में ही गौरव समझा था। सारे महाद्वीप

के वैज्ञानिक एक बार उसके यन्त्र और प्रयोग प्रणालियों को देखने के लिए लालायित रहते थे। प्रत्येक वर्ष उसके साथ काम करने-वालों के चुनाव के लिये दुनिया के सभी विश्वविद्यालय अपने-अपने बड़े वैज्ञानिकों को भेजते थे। चेडविक उन वैज्ञानिकों में से स्वयं सबसे अच्छे तीन विद्वानों को छाँट कर अपने अनु-संधानों को उनको समझाता और उन्हीं से सहायता लेकर नई-नई वस्तुओं का आविष्कार करता था।

राय—विलेस्की और विलसन दोनों से बढ़कर था। चेडविक इसीलिये उसे बहुत चाहता था। जिस प्रयोग में विलसन या विलेस्की कई दिन लगा देते उसे वह घंटों में कर देता था। पर इस बार वह बिलकुल पिछड़ गया। रूथेनम का रेखाचित्र उससे निकलता ही न था। वह सोच रहा था—यदि इस बार भी न निकला तो वह जाकर चेडविक से कह देगा कि रूथेनम ऐसा पदार्थ है कि उसका रेखाचित्र नहीं निकल सकता। उसने फिर विद्युत का वाष्पकिरण (एलेक्ट्रिक आर्क) जलाया। रूथेनम की उस छोटी सी नली को उसके सम्मुख रक्खा और चारों ओर प्रकाश छिद्र बन्द कर के धीरे से फोटोग्राफ के प्लेट को उस नली के सम्मुख चित्र खींचने वाले उस (स्पेक्ट्रोग्राफ) यन्त्र में लगाया। तीन घंटे इसी प्रकार वह अंधकार में रहा। बीच-बीच में उसने वाष्पकिरण की ज्योति जला दी। फिर अन्धकार में उसने प्लेट को धोया। वह सोच रहा था कि यदि इस बार भी चित्र न निकला तो चेड-विक क्या कहेगा। विलसन और विलेस्की के सम्मुख मैं कुछ भी न रह जाऊँगा।

उसने कमरे में प्रकाश किया। काँच को फिर उठा कर देखा। उसका हृदय धक्-धक् कर रहा था। काँच के उस पारदर्शक 'फोटोग्राफिक प्लेट' में दो पतली-सी रेखायें साफ दिखलाई दे

रही थी। उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। कुछ ही घंटों के पश्चात् उस चित्र को लेकर वह चेडविक को दिखलाने गया।

(२)

जब राय ने चेडविक के कमरे में प्रवेश किया तो वह विल्सन को एक नया प्रयोग दे रहा था। राय ने अपने ग्यारहों किरण चित्र उसके सम्मुख रखते हुए कहा—"बड़ी कठिनता से ग्यारहवीं बार यह चित्र निकला है। दो रेखायें केलसियम के रेखाचित्र की भाँति पाँच हजार तीन सौ और चार सौ एंगस्ट्रोम के बीच में हैं।"

चेडविक राय के एक-एक शब्द को ध्यान से सुन रहा था। उसने एक-एक करके काँच के उन दसों प्लेटों को उठाकर देखा और फिर उस ग्यारहवें को। वह फिर कुछ सोचकर बोला—"केलसियम के समीप ?"

आज उसके शब्दों में कुछ परिवर्तन, कुछ राय के प्राप्त फल के लिये सन्देह और कुछ अविश्वास-सा राय को जान पड़ा। कभी भी उसे राय के फलों पर सन्देह न होता था। वह उसके किसी भी गूढ़ प्रयोग को दो बार दुहरा लेने से संतुष्ट हो जाता था।

"राय, एकबार और करके देखिये।" उसने उस ग्यारहवें प्लेट को लौटाते हुए कहा।

राय के लिये यह कम पराजय की बात न थी। विलेस्की और विल्सन दोनों नए प्रयोग करने लग गये थे। और चेडविक के वे शब्द, उसका अविश्वास !

कमरे में आकर उसने फिर चापकिरण जलाया। कथेनम की सारी नली को देखा। सारे चित्र लेखक की परीक्षा ली। फिर अन्धकार करके एक नये प्लेट को चढ़ाया।

तीन घंटे, बस फिर वह कथेनम के रेखाचित्र को चेडविक

को दिखलायेगा और आज ही नया प्रयोग आरम्भ कर देगा। विलेस्की और गिलसन उससे आगे नहीं बढ़ सकते।

बड़ी कठिनता से तीन घंटे व्यतीत हुये। प्लेट धोया गया। पर इस बार भी उसमें कोई चित्र न निकला।

उसने फिर सारे यंत्रों की परीक्षा की। कहीं कोई त्रुटि न थी। 'क्रौस वायर' ठीक स्थान पर था। 'शटर' बिलकुल सामने था, नली ठीक नब्बे अंश का कोण बना रही थी। चापकिरण में बिजली का दबाव भी ठीक ही था—चार सौ वोल्टेज। दो बार उसने फिर एक एक पुरजे की छान-बीन की।

समतल करने वाले 'स्पिरिट लेविल' में हवा का बबूला कुछ बाँई ओर था। थोड़ा सा 'मिलीमीटर' के एक दो शतांश। उसे सन्देह हुआ शायद यही गलती होगी। 'स्क्रू' के पेंच को घुमा कर उसने हवा के बबूले को ठीक शून्य पर रक्खा। घड़ी ने ठीक तीन बजाये।

वह सोचने लगा—बस तीन ही घंटे तो और हैं; सात बजे चेडविक के सामने चित्र पहुँच जायेगा। कल ही नया प्रयोग।

सात बजे उसने प्लेट को धोया और छापा। फिर भी वह ज्यों का त्यों! बिल्कुल पारदर्शक—उसमें न कोई रेखा न निशान।

उस रात वह नहीं सोया। दस बजे उसने एक नया प्लेट निकाला। फोटोग्राफ खींचा। पर वह भी बिलकुल साफ! एक बजे फिर, पर फिर भी सफलता न मिली।

इस बार उसने फोटोग्राफ के एक नये प्लेटों के बंडल से एक बहुत तेज़ ('सुपर सेन्सिटिव') प्लेट को, जिसमें बिल्कुल मन्द प्रकाश में भी चित्र निकल सकता है, लिया और सात घंटे तक, दूने से भी अधिक समय तक, उसे कमरे में रक्खा।

नौ बजे प्रातःकाल चेडविक आयेगा और तब तक उसका

चित्र भी निकल आयेगा। फिर नया प्रयोग विलसन और चिलोस्की के साथ।

आठ बजे 'पायरोगेलोल' के खूब तेज घोल में उसने प्लेट को धोया। इस बार भी प्लेट बिलकुल स्वच्छ और पारदर्शक था। उसमें उन दो रेखाओं का पता भी न था।

एक बार और फिर चेडविक से कह दूँगा कि 'क्थेनम्' का रेखाचित्र निकल ही नहीं सकता। सम्भव है, चापकिरण में त्रुटि हो। इस बार उसने एक दूसरे चापकिरण का ले कर फिर चित्र लिया।

बारह बजे उसने इन पाँचों प्लेटों को चेडविक की मेज पर रखते हुए कहा -"क्थेनम क्रिप्टन की भाँति एक आलसी तत्व है, उसका रेखाचित्र नहीं होगा।"

हँसते हुए चेडविक ने कहा—"हाँ, यही मैं भी सोचता था। वह क्रिप्टन वश ही में तो पाया गया था। लेकिन वे दो रेखायें क्या थीं। उनका पता लगाना चाहिए। शायद उससे किसी नई बात पर प्रकाश पड़े।"

ग्यारहवें प्लेट को उठा कर उसने कहा—"रेखायें तो बिलकुल साफ हैं, अवश्य— इन्हें अवश्य ढूंढ़ना चाहिये।" उस दिन रात में चार और चित्र खींचे। पर किसी में भी वे दो रेखायें न दिखलाई दीं। रेखा चित्रों की सूची के एक-एक चित्र को निकाल कर उसने उन दो रेखाओं को मिलाया। वे जितने भी तत्व आज तक पाये गये हैं किसी के भी चित्र में न थीं। उसने फिर पुराने ही चापकिरणको जला कर चित्र खींचा। फिर भी नहीं।

तब वे दो रेखायें कहाँ से आ गईं?

दो दिन उसे नींद न आई रातदिन वह एक-एक चीज, एक-एक पेंच और एक-एक प्लेट को बदल कर फिर क्थेनम का चित्र

6।।6.। ¶।।6।

खींचता। कभी एक शटर बन्द कर लेता तो कभी 'क्रास वायर' खींच लेता। कभी प्लेट को केन्द्र से हटा लेता। कभी आर्क बदल देता। पर कभी भी वे दो रेखायें फिर न दिखलाई दीं।

हार कर वह चेडविक के पास गया। उसके उतरे हुये मुँह को ताक कर चेडविक सब समझ गया। इसी समय विलेस्की भी अपने उस नये प्रयोग को समाप्त कर के फल को दिखलाने लगा। राय उसे देखते ही मारे लज्जा के अपने को धिक्कारने लगा।

चेडविक ने उसे सम्बोधित करते हुए कहा—"उन दो रेखाओं का क्या अभी तक पता नहीं लगा ?"

सिर नीचा किये उसने कहा—"नहीं, बीस चित्र और खींच चुका हूँ। पर किसी में भी वे दो रेखायें नहीं निकलतीं।"

"पर उन्हें यों ही छोड़ देना भी तो ठीक न होगा। वैज्ञानिक का कार्य तो बाल की खाल निकालना है। साधारण सी बातों के पीछे कभी-कभी ज्ञान का भंडार छिपा रहता है। रोञ्जन ने यदि अपने कुञ्जियों के गुच्छों के चित्र की छान-बीन न की होती तो आज एक्सरे होता ही नहीं। वोल्टा न मेढक की टाँगों के उस छोटे से 'क्लिक' शब्द को भुला दिया होता तो आज विद्युत का कहाँ पता होता। कवेंडिश ने हवा के उस छोटे से बबूले को, जो कास्टिक सोडा में घुलता ही न था, छोड़ दिया होता तो आज हेलियम और नियोन जैसी आवश्यक वस्तुओं से संसार वञ्चित ही रहता। जाइये फिर उन दो रेखाओं को ढूँढ़ने का प्रयत्न कीजिये। अध्यवसाय और परिश्रम का पाठ पढ़ने के लिये आप इस प्रयोग-शाला में आते हैं।"

एक सप्ताह और हो गया। विलेस्की और विलसन दो नये प्रयोग समाप्त कर चुके थे, पर राय तब से चेडविक के पास नहीं आया। वह रात दिन नये-नये चित्रों को खींचता, पर कभी

भला आदमी था, धनेश्वर पण्डा - जो हिन्दुस्तान का ही रहने वाला था।

हिन्दुस्तानियों के लिए दूध का विशेष प्रबन्ध था क्योंकि चीन के इस प्रान्त में दूध दुह कर पीना बहुत घृणास्पद समझा जाता है। सिपाही जब दूध पीते तो पास ही खड़े चीनी घृणा के मारे नाक मुँह सिकोड़ते और कभी-कभी थूक भी देते—'पक्च थू।'

अस्पताल में बीमारों के लिये गायें लाश्यों और म...लों से मँगाई गई थीं और रोज दो सिपाहियों की ड्यूटी गायों को जंगल से चरा कर लाने के लिए बदलती थी।

एक दिन शाम को एक गाय गुम हो गई, दूसरे दिन प्रात:काल तक उसका कुछ पता न चला। एक चीनी से, जो कानकाइ डे (मंडी का दिन) से लौट रहा था पता लगा कि उसने एक ऐसी गाय को एक चीनी के साथ पूर्व की ओर जाते देखा है। उसने बतलाया कि गाय के साथ एक बछड़ा भी था।

गाय बछड़ा देने वाली थी इसलिए डाक्टर का सन्देह पूर्ण हो गया। डाक्टर बड़ा फुर्तीला जवान था। तुरन्त गाय लौटा लाने के लिए तैयार हो गया और मुझे भी चलने को विवश किया क्योंकि मैं चीनी भाषा में बात चीत कर लेता हूँ।

डाक्टर, अर्दली मँगनी और मैं, तीनों सवार होकर पूर्व की ओर चल दिये। गाँव के किनारे नहर थी। उस पर काठ का पुल था और उस पार से पहाड़ की चढ़ाई दूर तक चली गई थी। इस पहाड़ी को पार करके हमने घोड़े उस पथरीले ढालू मैदान की ओर बढ़ाये जिस पर साप्ताहिक बाजार लगना था। कुछ दूर पूर्व की ओर बढ़कर पहाड़ के उतार पर इधर-उधर छिटके हुए मकानों की पंक्तियाँ दिखलाई देती थीं। यह चीन का एक बड़ा गाँव था।

हरे-हरे बाँसों के झुरमुट से घिरे पहिले ही मकान पर पहुँच कर मेरी दृष्टि उस गाय पर पड़ गई जिसकी खोज में हम लोग आये थे। पाँव से हरे बाँस के पत्ते उसके सामने फेंक रक्खे थे जिन पर वह मुँह चला रही थी। पास ही उसका उसी दिन का पैदा हुआ बछड़ा खड़ा था।

हम वहाँ पर उतर गये और अपने हाथों में लगाम थामे मैंने उसी मकान वाले से, जो अब हमारी ओर कटहे कुत्ते की तरह नीली-पीली आँखें किये ताक रहा था, कहा—

"लाइ फदो इते छो छु डोंगिटी सा" (घोड़ों के लिए थोड़ी घास डाल दो)।

वह घूरता रहा और चुप्पी साधे रहा।

मैं जानता था कि एकाएक गाय उठा ले जाना आसान नहीं। गाँव के मुखिया को बुला कर उसे गाय लौटाने के लिए कहेंगे। इसलिए मैंने सामने घास के ढेर की ओर मँगनी को इशारा करते हुए कहा कि वह घास उठा लाये और उस चीनी से फिर पूछा—"च्की चाउनन ता जन? (इस गाँव का मुखिया कौन है?)"

वह चुप रहा।

अब की मैंने कुछ जोर से कहा—"च्की च्यउथा चनिलाईं (मुखिया को बुला लाओ)।"

अब की बार मानो वह गुर्रा कर बोला—"थारव नानिलो (वह गया है कहीं)।"

मैंने शान्त भाव से कहा—"कहाँ गया है?"

वह उसी प्रकार बोला- "थारव 'हों' छाव लो (वह गया है बड़े चीन)" वहाँ पर 'हों' बड़े चीन के लिए कहा जाता है।

मँगनी ने अब तक अपने घोड़े को बाँस के पेड़ से बाँध दिया

था और वह ज्योंही घास के ढेर की ओर बढ़ा उस चीनी ने टोक कर कहा—

"च थाङ्-गशो छ (घास तुम्हारे लिये नहीं रक्खी गई)।"

मुझे क्रोध चढ़ आया और मैंने कहा—"बदमाश कहीं का चोर, हमारी गाय चुरा लाया और उस पर शेखी!"

इतना सुनना था कि वह तुरत अपने मकान के अंदर गया और एक लम्बा हिरन का सींग बाहर निकाल लाया और आँगन के किनारे दीवार पर खड़े होकर शख की तरह उसने उसे बजाया। थोड़ी ही देर में सारे गाँव में चिल्ल-पों मच गई। भैंस और हिरन के काले-काले सींगों को तुरही की तरह बजाते हुये सारे गाँव वाले हमारे चारों ओर खड़े हो गये। कई एक हाथों में 'दाओं' (चीन की कुकरी), राइफलें और तलवारें भी चम कने लगीं।

यह चीनी ज़ोर-ज़ोर से उन लोगों से कहता—'इस अङ्गरेज़ कुत्ते ने मुझसे चोर कहा। इसने मुझे गाली दी और चोर कहा।' (बाद को ज्ञात हुआ कि चुले (चोर) उस प्रान्त में बड़ी भयानक गाली समझी जाती है। चोर का पता चलने पर उसे प्राण-दण्ड मिलता है और उसका माँस काट कर प्रत्येक गाँव में एक-एक टुकड़ा भेजा जाता है और गाँव-गाँव में उस माँस टुकड़े का एक झण्डे पर बाँध कर एक जुलूस निकाला जाता है और सरकारी अमलदार पुकार कर कहता है—'अमुक चोर को प्राण-दण्ड मिला।')

चारों ओर से हम लोग घिर गये, और दो चीनियों ने कस कर मेरी बाँहें पकड़ लीं। धनेश्वर पराड़ा धम से ज़मीन पर बैठ गया। मँगनी के मुँह से झाग बहने लगा। मैं खड़ा था, खड़ा ही रह गया। तलवार वाले मेरे निकट आये। एक ने तलवार खड़ी

की ओर अपने साथियों की ओर ताक कर उनकी अनुमति-सी लेकर कहा—"थान (इसका) थू (सिर) ना (लो) ताउच (तलवार से) रा (काट दूँ) ।"

"रा च्छ स्मो (क्या देखता है, काट)" मकान वाले ने कहा। इतना सुनना था कि मैं पत्थर की मूर्ति-सा बन गया। कानों में भन्न का शब्द हुआ। इसके बाद न मैं किसी को देख रहा हूँ, न कुछ सुन रहा हूँ। धनेश्वर पण्डा मंगनी और घोड़े भी मेरी आँखों से ओझल हो गये। मैं भूल गया कि मैं कहाँ हूँ। मानो मेरे प्राण शरीर को निर्जीव छोड़कर चल बसे। न जाने इस दशा में मैं कितनी देर चेतनाशून्य खड़ा रहा कि एकाएक मुझे छन-छन-छन का शब्द सुनाई दिया। (घोड़े को चारों ओर से घिर जाने से शायद बेचैनी-सी ज्ञात हुई और उसने अपने सारे शरीर को हिलाया)। मेरी नींद-सी टूटी और दोनों चीनी इसी छनछनाहट से घबड़ा करके दो दो कदम पीछे हट गये। मैं एक दम होश सँभाल कर घोड़े पर सवार हो गया और लगाम सँभाल कर मैंने एक दम ऐंड़ मारी और घोड़े को पहाड़ की चढ़ाई पर सरपट भगा दिया। मन ही मन यह सोचता रहा कि इनके हाथों मारे जाने से घोड़े से गिरकर मर जाना अच्छा है।

चढ़ाई पार करके जब मैं लगभग पाँच मील निकल गया तो मुझे ब्रिटिश बर्मा की सीमा पर लगा 'बाउड्री पिलर' मिला। तब मुझे ज्ञात हुआ कि हम बिना जाने समझे पाँच मील चीन के अन्दर घुस गये थे।

थोड़ी दूर आगे बढ़कर सड़क के किनारे एक ठंढी झाड़ी में घुसकर मैंने घोड़े को बाँध दिया। मेरा शरीर अब तक काँप रहा था और कुछ समझ में नहीं आता था कि अब क्या करना चाहिए। कमाँडिंग अफसर के सामने धनेश्वर पण्डा और मंगनी

के लिए क्या कहूँगा। सोचते-सोचते झपकी-सी आ गई। थोड़ी देर में 'झप-झप' की-सी कुछ आहट ने मुझे जगा दिया। मैंने देखा कि तीन चीनियों के साथ डाक्टर और मँगनी चले आ रहे हैं। एक ने गाय की रस्सी पकड़ी है, एक बछिया को लिये है और एक के हाथ में अँगरेजी अक्षर Y की तरह की एक कैंची लकड़ी है। जब गाय सिर बढ़ाकर उसकी ओर मारने को बढ़ती है तो वह उसे उसकी नाक में खट से झटका देता है।

मैं समझ गया कि मेरे भाग आने पर चीनियों ने समझा कि अब मैं पूरी पलटन लेकर उनके गाँवपर धावा बोल दूँगा इसलिए इस आपत्ति से बचने के लिए उन्होंने डाक्टर और मँगनी के के साथ-साथ गाय को भी तुरंत लौटा देने का निश्चय किया।

मैंने उनको आगे बढ़ने दिया पर जब मेरा घोड़ा हिनहिनाने लगा तो मुझे भी उनके पीछे हो लेना पड़ा। आगे बढ़कर मैंने तीनों चीनियों को अपने बूटों से खूब लातें जमाईं। दोनों को अधमरा करके वहीं डाल दिया और तीसरे को जिसके कन्धे पर गाय का बछड़ा था एक आध तमाचा जमाकर कैम्प को ले चले। यह वही चीनी था जिसके दरवाजे गाय बँधी थी। रास्ते भर वह गिड़गिड़ाता रहा और क्षमा-याचना करता रहा और मैं भी चाबुक और बूट की ठोकरों से जवाब देता रहा।

तीन बजे हम कैम्प में पहुँचे। उस समय दफ्तर लगा था और सिपाहियों की पेशियाँ हो रही थीं। मैंने भी उस चीनी को पेश किया और सारी घटना का वर्णन किया। जब तक मैं ओ० सी० के पास बैठा इस घटना का वर्णन करता रहा वह चीनी लगभग दो-सौ बार उठा और घुटनों के बल बैठा। दोनों हाथों की मुट्ठियाँ बाँधे अँगूठे मिलाकर बार-बार सलाम करके गिड़-गिड़ा कर आँसू बहाता रहा। ओ० सी० उसकी ओर देखकर

खूब मुस्करा रहा था। शायद ओ० सी० ने इसीलिये मेरी आप-बीती को उतनी उत्सुकतापूर्वक नहीं सुना।

जब मैं अपना बयान समाप्त कर चुका तो मैंने कहा—"हुजूर को सब कुछ इख्तियार है। इस चीनी को ऐसा दंड मिलना चाहिये कि सब चीनी जान जायें कि सरकारी सिपाहियों से कैसे पेश आना चाहिये। यह तो मुझे जान से मार चुका था।"

साहब ने मानो सुना ही नहीं और मुस्कराते हुए पाँच रुपये का नोट निकाल कर मुझे दिया और कहा कि इस चीनी को इनाम दे दो और कहो कि अब कोई हमारी गाय गाँव में पहुँच जाये तो जल्दी लौटा दिया करे।

दूसरे दिन-रात में मैंने निश्चय किया कि इस न्यायशून्य अफसर के लिए मृत्यु-दण्ड ही केवल एक उपयुक्त दंड है। और अस्तबल में जाकर मैंने उस प्यारे घोड़े को, जिसने मेरी प्राण रक्षा की थी, चूमा और अपनी जेब में रखी छहों गोलियों से लैस अपने 'ब्रिटिश बुलडाग' के बोझ के नशे में झूमता-सा मैं ओ० सी० को अन्तिम सलामी देने को चला गया।

८

घबराहट

"आज मेरा चेहरा कुछ उतरा हुआ सा तो नहीं मालूम पड़ता ?"—साहब ने पूछा।

बैरा सामने खड़ा था। शायद पहली बार इस होटल में किसी आगन्तुक ने इस प्रकार उससे ऐसा प्रश्न किया था।

मेज़ थी, उस पर बड़ा सा आइना लगा हुआ था, उसी के सम्मुख अभी कोट-पतलून और टाई पहिन कर साहब खड़े-खड़े अपने चेहरे का प्रतिबिम्ब, कुछ शंकाकुल और संदिग्ध से हो, तन्मयता से देख रहे थे।

"क्या हुजूर को रात को ठीक से नींद नहीं आई ?"—बैरा ने पूछा।

"नहीं, नहीं, यों ही पूछता था।"—साहब ने कुछ चौंककर कहा—"क्या सचमुच मुझमें कुछ परिवर्तन-सा जान पड़ता है ? क्या सचमुच कल से मैं कुछ सुस्त-सा जान पड़ता हूँ ?"

इतना सरल और निकटतम आत्मीय-सा लगने वाला ऐसी घुली-मिली-सी बातें करने वाला आज तक इस होटल में शायद ही कोई बिरला आया हो—बैरा मन ही मन सोच रहा था—

अगर इसी प्रकार सभी आगन्तुक हिल-मिलकर रहें, इतनी स्पष्ट और सरल बातें हों, तो सारा होटल एक परिवार-सा लगने लगे। सभी के हृदय हलके हों, सभी के दुःख बटें। लेकिन संसार में ऐसे सहृदय व्यक्ति हैं ही कितने?

"नहीं साहब!", बैरा ने कहा—"मुझे तो आप खूब स्वस्थ दिखलाई देते हैं। ऐसे ही कुछ सुस्ती आ भी गई हो तो अभी दूर हो जायेगी। रात को भी तो हुजूर ने खाना नहीं खाया। चाय ले आऊं साहब—मक्खन और रोटी?"

"हाँ ले आओ,"—साहब ने उदासीनता से कहा—"और देखो, कोई अखबार वाला नहीं आया क्या अभी? सुबह का अखबार कितनी देर में आता है यहाँ!"

"नहीं हुजूर, आता ही होगा।"—बैरा ने कहा—"सात बजे तक आ जाता है।"

कल सन्ध्या समय यह महोदय गाड़ी से उतरकर इस होटल में आये थे। आते ही अपना संक्षिप्त-सा सामान कमरे में छोड़कर टहलने चले गये। रात को कुछ देर से लौटे। बिना खाये, या शायद कहीं अन्यत्र खाकर—जिसका कुछ भी पता इस बैरा को नहीं, सो गये। आज प्रातः सबसे पहिले जगने वाले और तुरन्त स्नान कर तैयार होने वाले यही एक आगन्तुक थे। अन्यथा यह तो एक ऐसा होटल है जिसमें दुनिया की हलचल, रात दिन के अविकल परिश्रम और काम-काज की दौड़-धूप के उपरान्त शिथिल निस्तेज मुद्रा लटकाये यात्री आते हैं और आराम से अपना दो-तीन दिन की छुट्टी थकान दूर करने में बिताते हैं। खूब खाते हैं, खूब सोते हैं और देर से उठते हैं।

कुरसी पर बैठकर साहब सोचने लगे—मुझमें कोई अन्तर नहीं आया। मैं जैसा था वैसा ही हूँ, और जैसे सब लोग हैं वैसे

ही मैं भी हूँ, मुझमें कोई विलक्षणता नहीं। हाँ मेरा दिल अधिक धड़क रहा है, पर इसे कौन देख सकता है ? मुझे घबराना नहीं चाहिये। मैंने सारा काम इस प्रकार किया है कि किसी को मुझ पर संदेह नहीं हो सकता। प्रत्येक बात का मैंने रत्ती-रत्ती विचार किया है; अपने जूतों के निशान तक मैं मिटा आया हूँ; अपने हाथों के दस्ताने तक मैं आते समय उसके कबाड़खाने में डाल आया हूँ। कमरे का ताला दो-चार दिन तक कोई न खोलेगा। वह अकेला था और खाना तक तो होटल में खाता था। किसी को सन्देह न होगा। और यदि कमरा खोलकर कोई अन्दर गया भी तो उसे मेरा क्या पता ? मैं आज दस साल बाद इस शहर में आया हूँ। मैंने इस बीच कभी उसे पता भी न लिखा था। मुझ पर किसी का सदेह नहीं हो सकता। फिर भी आज का अखबार देख लेना चाहिये शायद कुछ आ जाय, कुछ छप जाय। कोई उसका मित्र शायद उसके पास रात में मिलने गया हो, सीढ़ियों को पार करके उसने जल्दी में किवाड़ खटखटाया हो, जल्दी में उसकी दृष्टि उस ताले पर न पड़ी हो और उसने सोचा हो कि वह अन्दर ही है। अथवा शायद उसका नौकर लौटकर आया हो और अब तक वहाँ पुलिस पहुँच गई हो। अभी तक अखबार नहीं आया।

उसने फिर मेज पर की घंटी बजाई 'टनन्-टनन्' और एक हलकी-सी कँपकँपी से उसका हृदय काँप उठा।

"ले आया हुजूर !"—बैरा ने कहा।

"हाँ, जल्दी ले आओ।"—उसने कहा और सोचने लगा—मुझे उतावली नहीं दिखलानी चाहिये। घबराना नहीं चाहिये, भला घबराने की बात ही क्या है ? सब कुछ जैसा प्रतिदिन होता आ रहा है वही आज भी है। साधारण जीवन का एक साधारण

दिन यह भी है। इसे मैं इतना महत्व क्यों दूँ ?

जल्दी से ट्रे में चाय लाकर बैरा ने चमकती हुई पत्थर की मेज पर चायदानी, दूध, प्याला-तश्तरी, रोटी और मक्खन का एक-एक करके रक्खा। साहब ने मन ही मन कुढ़कर कहा—'अखबार लाने का कहा और लाया चाय! पर मुझे उत्सुकता नहीं दिखलानी चाहिये।' अखबार के लिये मेरी उत्सुकता इसी घबराहट की उत्पत्ति है।' और शांत होकर कुरसी चाय के समीप खींच ली, दाँत से रोटी का एक टुकड़ा काटकर धीरे से बैरा से कहा—"अखबार आये तो हमारे पास दे जाना।" और बहुत धीरे से जेब में हाथ डालकर एक आना पैसा खट् करके मेज पर रख दिया। यह अखबार के लिए था। पैसा लेकर बैरा बाहर आया तो साहब अपने ही विचारों की उधेड़-बुन में लग गये।—'कितनी सतर्कता से मैंने सब कुछ कर डाला! कितनी बुद्धिमानी से मेरा सारा काम बन गया! स्वयं मुझे इतने दिनों के प्रयत्न करने पर भी यह विश्वास न था कि वह इतनी जल्दी मेरी बातों में आ जायेगा और इतनी आसानी से, थोड़ी सी देर में उसका इस प्रकार अन्त आ जायेगा। सब साहस की बात थी, सतर्कता की, अपने मन को वश में करने की और घबराहट को दूर रखने की। जब उसने फोन की घंटी बजानी चाही थी, मैं घबड़ाकर खड़ा रह जाता और दिमाग से काम न लेता तो आज तक फिर एक बार उसी की विजय होती, मैं फिर पुलिस के हाथों में होता। पर मैंने अपनी बुद्धि से काम लिया। फौरन चोंगे को झटककर तार को काट दिया और तबतक वह दवा भी काम कर गई।"

"लीजिये साहब, अखबार आगया।"—बैरा ने कहा।

पर साहब ने उसे झटपट नहीं उठाया, अपनी जिज्ञासा को

गोफा। चाय का घूंट पीकर रोटी के टुकड़े पर चाकू से मक्खन को लगा कर मुँह में डाला और तब धीरे से अखबार को उठाया, एक ही दृष्टि में पहिले पृष्ठ के सब शीर्षकों को पढ़कर दूसरे पन्ने को देखा, तीसरा पन्ना उलटा और इस प्रकार पूरे बोरा पृष्ठ का अखबार उलट कर साहब ने मुसकराकर अँगड़ाई-सी ली और उसे मेज पर डाल दिया, कुछ न था। वह घटना नहीं छपी थी, छपती भी कैसे? वह फिर सोचने लगे—अभी तक कोई वहाँ गया भी न होगा। अभी तो लोग सोचते होंगे वह सो रहा है। फिर लोग आयगे, उसके कमरे में ताला पड़ा देखकर कहेंगे—वह बाहर गया है। फिर दो-तीन दिन तक लोग उसी प्रकार उसके दरवाजे तक आकर लौट जायेंगे।

बेरा खड़ा था। साहब की आज सुबह की बातें उसके हृदय में स्थान कर चुकी थीं। राजभक्ति की इस साक्षात् मूर्ति पर अपनी पूजा अर्पण करने की उसकी इच्छा होती थी। साहब के प्रति आत्मीयता का भाव ऐसा सुदृढ़ अंकुर जमा चुका था कि श्रद्धा-जलि में जो कुछ अर्पण हो जाय वह कम ही जँचता था।

"हुजूर, लखनऊ के उस दंगे की क्या खबर है?"—उसने अपनी बात की भूमिका का आरम्भ इस प्रकार किया।

"कुछ, नहीं!"—साहब अपने ही विचारों में तल्लीन थे।

"विलायत की लड़ाई में सुना है सरकार हार रही है; क्या सच है?"

"कोई खबर नहीं!"—साहब ने कहा—"कुछ नहीं है अखबार में।"

उनका ध्यान बेरा के प्रश्न की ओर बिलकुल न था। बजे हुये तार की प्रतिध्वनि के समान ये अस्वाभाविक ओजहीन शब्द उनके मस्तिष्क के सुप्त विचारों की गूँज की तरह उनके मुख से अनायास

ही निकल रहे थे। बैरा को अँग्रेजी का किंचित सा अक्षर बोध था, व्यक्तियों और नगरों के नाम और थोड़ी-सी अँग्रेजी रोमन लिपि को वह पढ लेता था। पहिले पेज पर मोटे-मोटे अक्षरों में लखनऊ का कोई समाचार था। उसे देखकर बैरा ने कुछ साहस करके अखबार का पहिला पन्ना उलटकर सामने करते हुये पूछा--"यह जो लखनऊ की खबर छपी है, यह क्या है साहब ?"

"क्या पूछते हो ब्वाय ?"—साहब ने मानो तन्द्रा से जगते हुए कहा। बैरा साहब की इस अर्ध जाग्रत स्वप्निल वाणी को सुन कर घबरा-सा गया, अभी कुछ ही मिनट पहिले जो घुली-मिली सी बातें साहब ने की थीं उनमें और इस मौन हुये से स्वर में बड़ा परिवर्तन था। जल्दी में उसने कहा—"मेरा मकान है साहब, लखनऊ में बच्चे हैं, वहाँ सुना है दंगा हुआ है, जरा देख दीजिये, किस मुहल्ले में है।"

साहब ने उलट-पलट कर फिर अखबार को देखा और कहा—"कोई खबर नहीं, कुछ नहीं है, जाओ"

बैरा चल दिया, साहब की बातों पर उसे विश्वास न हुआ। सोच रहा था—मैंने साहब को क्रोधित तो नहीं कर दिया ? उनके सामने अखबार रखकर गुस्ताखी तो नहीं कर डाली ? मुझे ऐसा न करना था। अब्दुल्ला कहता ही है मैं कभी-कभी ऐसी ही ऊट-पटाँग बातें कर बैठता हूँ। अखबार पकड़कर लखनऊ की खबर पढ़ दीजिये, कहना मेरी बड़ी गुस्ताखी थी, साहब सहृदय है, बहुत सीधा और भोला है, नहीं तो कह बैठता—'डैम यू फूल ! हट जाओ। हम तुम्हारा नौकर नहीं है।' तम्बाकू की कम्पनी का बड़ा साहब अगर होता तो कोई ठीक नहीं एक-आध लात भी जमा देता !

अपनी टोपी कमरे में न देखकर एकाएक साहब पैर पटक

कर खड़े हो गये। दोनों हाथ अनायास हो नाली पर जा पड़े और बैरा दौड़ता हुआ अन्दर आया—"हुजूर!"

ओह! साहब कहने वाले थे कि मेरी टोपी क्या तुमने देखी? कि सहसा उन्हें विचार आया कि—मैं अपनी टोपी हो न हो नहीं भूल आया हूँ। पर मुझे घबराना नहीं चाहिये। मुँह से निकल गया—"बिल ले आओ!"

"बहुत अच्छा!" कहकर बैरा बाहर निकल आया। साहब सोचने लगे—अभी कुछ नहीं बिगड़ा, सीढ़ियों के ऊपर बरामदे के किनारे खूँटी पर हैट ठीक उसी प्रकार टँगी होगी। अभी वहाँ कोई चिड़िया तक न फटकी होगी। धीरे-धीरे टहलते हुये जाता हूँ, पैदल जाना ही ठीक होगा और चुपके से जाकर टोपी ले आऊँगा, किसी को सन्देह नहीं हो सकता। टोपी का उसी प्रकार लटकते रहना बड़ा आपत्ति-जनक है। टोपी से बहुत कुछ पता लग सकता है। मेरे सिर का साइज उसमें लिखा है और कम्पनी का भी नाम अंकित है। कम्पनी से पूछ-ताछ होने पर आसानी से मेरा पता लग सकता है। ७ नम्बर इने-गिने ही लोग खरीदते हैं। सम्भव है, उसे मेरा नाम भी याद रहा हो। टोपी का वहाँ रह जाना बिलकुल ही अनुचित है, मुझे अभी जाना चाहिये। कुशलपूर्वक हैट लेकर मैं लौट आया तो ठीक ही है, अभी लौट जाऊँगा। यदि पकड़ लिया गया तो भी मुझे तैयार रहना चाहिये, मैं जिस काम के लिये आया था वह बन गया है, अब अपनी रक्षा के लिये यह जुआ और खेल लेना चाहिये। टोपी यदि ले आया तो फिर मुझ पर कभी किसी का सन्देह नहीं हो सकता।

बैरा जब तक आया साहब खड़े-खड़े उसकी प्रतीक्षा करते रहे; उसके आते ही पैसा देकर आगे बढ़ गये।

सड़क पर आते ही उनके माथे पर पसीने की बूँदें झलकने

लगीं, पाँव लड़खड़ाने लगे। वे 'ओ मूर्ख, घबरा मत, घबरा मत !' मन ही मन रटते हुये लम्बे-लम्बे कदम बढ़ाकर चलने लगे। पर जिधर वे देखते उनको बार-बार ऐसा भास होता कि 'यह आदमी उनकी ओर क्यों देख रहा है ? यह ताँगे वाला क्यों उनके पीछे आ रहा है ? यह लड़का उनको देखकर हँस रहा है ? क्या वे ठीक तरह से नहीं चल रहे हैं ? क्या उनकी चाल में कुछ परिवर्तन आ गया है ? ऐसी कौन सी बात हो रही है जिससे सभी उनकी ओर घूरते दिखलाई देते हैं ? या यह उनका केवल विचार मात्र है ? ज्यों-ज्यों साहब आगे बढ़ते गये माथे और ठाढ़ी पर पसीना जम-जमकर टपाटप्-टपाटप् उनके सीने पर गिरने लगा। और मन ही मन वह रटते —'ओह ओह, घबरा मत, कुछ नहीं बिगड़ा है ! ओह, घबरा मत ?'

"चलियेगा साहब, कम्पनी बाग ?"—एक ताँगे वाले ने कहा।

चौंककर साहब ने ऊपर देखा—ताँगे वाला उनकी आँखों में देख रहा था, ठीक आँखों में। उन्होंने आँखें नीचा कर लीं और सिर हिलाकर कहा—'नहीं' और आगे चल दिये। रूमाल भीगकर तर हो चुका था। फिर भी पसीना बह रहा था टपाटप्-टपाटप् ! टाई भीग रही थी। सारा देह जल रही थी।

'टन् टन-टन्' एक दूसरे ताँगे वाले ने घंटी बजाई। साहब ने दायाँ हाथ जोर से धड़कते हुये सीने पर रख लिया। गरदन सीधी करके आगे बढ़ने लगे। घंटी की टन्-टन् असह्य थी।

बीच सड़क में ताँगा खट् से रोककर ताँगेवाले ने कहा—"आइये !" मानो साहब ने उसे पहले ही से तय कर लिया हो। "बहुत गरम है साहब, आज हवा नहीं चलती !" पसीने की बूँदें और साहब की लम्बी-लम्बी साँस देखकर ताँगे वाले ने कहा—"किधर चलियेगा ?"

साहब 'नहीं' कहनेवाले ही थे कि ताँगे वाले ने कहा—"एक आदमी आ रहा है दौड़कर, आप ही के पास शायद आता है, पगड़ी बाँधे है।"

'ओह् घबरा गए ! ओह घबरा गए मूर्ख !'—साहब ने जोर से अपने धड़कते हुये दिल को दबाकर मन ही मन फिर कहा और उछलकर जल्दी से ताँगे में बैठकर कहा—"चलो जल्दी, बाँई ओर !"

ताँगा मोड़कर ताँगे वाले ने कहा—"आदमी पुकार रहा है पगड़ी वाला, रोक दूँ ?"

"डेम इट जल्दी चलो !" साहब ने हुक्म दिया और आँख उठाकर देखा तो पगड़ी वाला पेड़ों के पास दौड़ता हुआ दिखलाई दिया। उधर से आँख हटाकर साहब ने कहा—"बढ़ते चलो। बाँई ओर मुड़ो, डेक रोड, ओह, घबरा गए !"

"नहीं मैं भला घबरा सकता हूँ साहब !"—ताँगे वाले ने कहा—आप कसकर डण्डे को पकड़े रहिये, अभी पहुँचाता हूँ डेक रोड।"

मोड़ पर मुड़कर ताँगे वाले ने कहा—"साहब रुक जाइये वह आदमी आ रहा है, इक्के पर, वही पगड़ी वाला, जरूर वह आपही से मिलना चाहता है ऐसा ही जान पड़ता है। वह ठहरने रोकने के लिये कहता है।"

"मत रुको, चलते चलो !"—साहब ने कहा—"वह आदमी हमको पकड़ न पावे, और ताँगे वाले के पीछे से उसकी पीठ में उँगली गड़ाकर एक रुपया उसकी ओर बढ़ा दिया, कहा—"तुमको और इनाम मिलेगा, जल्दी चलो !"

"अच्छा हुजूर, समझ गया !" कहकर ताँगेवाले ने ताँगा ख़ूब सरपट भगा दिया।

चौराहे पर पीछे के कांस्टेबिल की सीटी सुनकर पुलिस के

सिपाही ने ताँगा रोक दिया। साहब ने जेब टटोली तो वहाँ नोटों वाला पर्स न था। थोड़ी सी रेजगारी जेब में थी। एक ठंडी साँस लेकर साहब ताँगे से उतर पड़े, सोचा—अब सब कुछ बेकार है! पीछे से पुलिस पीछा कर रही है और अब तो सब को ज्ञात ही हो गया कि मैं ही उसका हत्यारा हूँ। अब और कोशिश करना व्यर्थ झंझट बढ़ाना है। मैंने अपना काम तो कल ही समाप्त कर दिया था, अब अपने को पुलिस के हाथ सौंप देने में ही श्रेय है।—यही सोचकर साहब आगे की ओर बढ़े; उन्होंने पीछा करने वाले सिपाही का निकट आना तो जान लिया, पर उसकी ओर बिना देखे आगे बढ़कर कांस्टेबिल के सामने खड़े हो गये। कहा—"लीजिये मैं—" और आगे क्या कहें!

इतने ही में पीछे से वह पगड़ी वाला आकर साहब के सामने हुआ, बोला—"लीजिये हुजूर, आप अपना बटुआ तो वहीं छोड़ आये होटल में। मैं आपको कितना रोका, आप चले ही आये।" साहब ने देखा—होटल का बैरा था। नयी सफेद पगड़ी बाँधे।

"ओह, बहुत अच्छा!"—साहब ने कहा।

"हुजूर क्या मैं आपको भूल सकता था, क्या आपकी चीज मैं ले सकता था? मेज साफ करने जब मैं गया तो देखा पर्स वहीं पर पड़ी है। फौरन बिना मैनेजर साहब से पूछे मैं दौड़ा आया। आप न मिलते तो साहब मैं इसे आपके पते पर भेज देता। आपका पता और नाम लिखा है इस बटुये में, थोड़ी सी अँगरेजी भी जानता हूँ हुजूर, जो समय पड़ने पर काम भी आ जाती है।"

'आप का पता और नाम लिखा है अँगरेजी भी जानता हूँ। ओह घबरा मत!' साहब ने फिर मन ही मन कहा, और

बना कुछ बोले बैरा को थोड़ा सा पुरस्कार देकर ताँगे पर बैठ गये और फिर ताँगा बढ़ा।

(२)

ताँगे पर चलते-चलते हवा से साहब का पसीना सूख गया और निर्दिष्ट स्थान तक पहुँचने तक उसकी घबराहट भी न रही।

सीढ़ियों के पास बहुत से लोग कौतूहलपूर्ण दृष्टि से अन्दर की ओर झाँक रहे थे। चार-पाँच पगड़ी वाले सिपाही खड़े थे और एक डाक्टर और दारोगा लाश की परीक्षा कर रहे थे।

साहब ने ताँगे वाले से कहा—"देखो, यहाँ पर यह जमघट क्या है?" ताँगे वाले ने एक दूसरे इक्के वाले से पूछकर बतलाया कि—"साहब, कोई कत्ल हुआ है, लाश पड़ी है!"

"ओह, जरा देखें।"—साहब ने ताँगे से उतरते हुए कहा। कमरे की ओर देखकर साहब के शरीर में एक हलकी सी कँपकँपी फिर उठ गई। रीढ़तले जमे हुये शीतल रक्त की सी धार उतर गई। माथे के दोनों ओर की धमनियाँ धड़कने लगीं। सोचा—'व्यर्थ उतर गया हूँ, लौट चलूँ। पर इतने लोग एकत्रित हैं। मेरी ओर किसी का ध्यान ही नहीं है, मैं जाऊँ या रुका रहूँ, किसी को कोई चिन्ता नहीं है तो फिर अपने हृदय को और सतर्क बनाकर चुपके से अपनी टोपी क्यों न उठा लो जाऊँ? बस मुझे तो घबराना नहीं चाहिये। घबराहट में मैं अपना पर्स भूल आया था। वह टोपी की भूल से कहीं और भयंकर था। अब भी मेरे उस व्यवहार से ताँगे वाला न जाने मन ही मन क्या सोचता होगा?'

मेज पर लाश लिटाई हुई थी। आँखें बुरी तरह बाहर निकली थीं। मुँह से झाग सा बहकर एक श्वेत फेन सा कान

उस चिपका था। सारा चेहरा भयानक और फूला हुआ सा था।

साहब को अपनी ही साँस अस्वाभाविक सी लगने लगी। अपनी वेश-भूषा में वे थोड़ी और दर्शकों में अपने को अस्वाभाविक सा देख रहे थे। सोच रहे थे—'ओह यह सब मेरा ही तो कृत्य है! मैंने ही यह सारा जमघट जमाया है। मेरी ही खोज में यह सब जाँच पड़ताल हो रही है। कुछ ही घंटे पहिले इस चैतन्य शरीर में और उस लाश में कुछ अन्तर न था और अब? अब वह निर्जीव है, मुर्दा! संसार की कोई भी वस्तु उसमें साँस नहीं फूँक सकती। प्रकृति के रचे हुये इस खेल को बिगाड़ना कितना आसान है और फिर सुधार देना कितना असम्भव! ओह, पर मैं यह क्या सोच रहा हूँ। दर्शन शास्त्र के विचारों के चक्कर में पड़ने का यह समय नहीं। उसका अन्त हो चुका, अब तो ये सब लोग मेरी मृत्यु के लिये तैयारियाँ कर रहे हैं।'

एक लम्बे से आदमी की ओट में पाँव बढ़ाते बढ़ाते साहब धीरे-धीरे बरामदे के पास पहुँच गये, टोपी अब उनसे गज भर दूर थी। एक कनखी से साहब ने उसकी ओर देखकर कमरे की ओर ताकना शुरू किया। लाश का मुँह ढाँप दिया गया था। कमरे की वस्तुओं की सूची बन रही थी। कपड़े उतार कर देखे जा रहे थे। दारोगा अपनी तेज आँखों से प्रत्येक चीज को निगल जाना चाहते थे। साहब ने देखा बरामदे में टोपी की ओर किसी का ध्यान न था।

साहब ने धीरे धीरे एक पाँव और खूँटी की ओर बढ़ा दिया, अब उनके सिर और टोपी में केवल हाथ भर का अंतर था।

मेज की दराजें देखी जा रही थीं। "कोई चीज न छूटने पावे। डाक्टर साहब, कोट पर जो निशान बने हैं उनको तो

आपने सँभाल कर रक्खा है न? हाथ से न छुइये। फर्श पर पैरों का निशान तो आप देख ही चुके हैं। अजी, इतने साफ आये हैं कि मालूम होते हैं कि कोई नौसिखिया क़ातिल है। काग़ज़ पर अँगूठे के निशान तो हज़ारों में मैं पहिचान सकूँगा।" सादा कपड़े पहिने एक लम्बा-सा पुलिस का अफ़सर कह रहा था। उसकी निस्तेज काँच सी आँखें, पिचके मटमैले गालों के ऊपर से चारों ओर देख रही थीं। वह बहुत ही लम्बा और दुबले शरीर का होने से कुछ कुबड़ा सा लगता था। साहब टोपी के बिलकुल निकट थे। हाथ बढ़ाकर टोपी उठाने ही वाले थे कि उस लम्बे अफ़सर की दृष्टि बाहर की ओर पड़ी। साहब सन्न रह गये। उनका हृदय फिर धड़क गया। अब अनश्य उसकी दृष्टि टोपी पर पड़ गई।

कौतूहल पूर्ण दर्शकों की ओर देखकर उसने अपनी काँच सी धुँधली आँखों को भयानक रीति से संकुचित करके कहा—"क्यों खड़े हो, क्या कोई तमाशा है? हटाइये इनको।"

एक दूसरे को ढकेलते हुये लोग उलटे पाँव पीछे हटे। साहब को भी धक्का लगा, वे सिर के बल पीछे गिरते गिरते बचे।

खूँटी से टोपी लड़खड़ाते फ़र्श पर गिरी और झटपट अपनी पतलून का गर्द झाड़ते हुये साहब ने उसे उठा लिया और "ओह, हॉरिबल, इनडीड हॉरिबल।" कहते हुये अपने ताँगे की ओर बढ़ गये।

(३)

बाज़ार से थोड़ी सी शृंगार की वस्तुयें तौलिया-साबुन आदि मोल लेकर साहब उसी ताँगे पर होटल को लौटे तो उनके मन में नव-जीवन की सी उमंग थी। विजयोल्लास की मादकता में हृदय

की घबराहट का कहीं पता न था। वर्षा के उपरान्त धुले हुये वातावरण की सी स्वच्छ नवस्फूर्ति का अनुभव उनको हो रहा था। सड़क परजो निकल जाता, यही इच्छा होती कि इससे दो बातें कर लूँ। ताँगे वाले की ओर देखकर उनके हृदय में भाव आये,—'इसका जीवन भी कैसा अद्भुत है ! कितने ही प्राणी इस गद्दी पर आये, बैठे, सैर किये और चलते समय ताँगे वाले को पैसा दिया, और चले गये। पूछा तक नहीं; तुम कौन हो ? तुम्हारा जीवन कैसा है ? संसार तुम्हें कैसा लगता है ?' और साहब अपना प्रिय गीत गुनगुनाने लगे। यह अँग्रेजी में था—

'जीवन कौन हो तुम ? कब आये ?

मत बतलाओ ? कभी मत बतलाना !

क्योंकि यही तो हमारे पारस्परिक अस्तित्व का रहस्य है।

जीवन कौन हो तुम—'

इच्छा हुई ताँगे वाले के स्थान पर स्वयं बैठ जाऊँ। कहा—'ताँगे वाले, चलो हम ताँगा हाँकेंगे, तुम आओ पीछे बैठ जाओ।"

"नहीं साहब, अब तो आ ही पहुँचे हैं, होटल बिलकुल करीब है !"

"लाओ तो हमें भी हाँकना आता है।"

"साहब के घर पर ताँगा होगा। कहाँ रहते हैं आप हुजूर ?"

"मैं तो बहुत दूर का रहने वाला हूँ, पूरब की ओर का। तुम्हारा क्या नाम है ताँगे वाले ?"

"खालिक हुजूर ! गुलाम को खालिक कहते हैं।"

"कहाँ रहते हो ?"—साहब ने पूछा।

"मकान तो देहात में है। आठ कोस होता है। यहाँ स्टेशन के ही पास रहता हूँ।"

"बाल बच्चे हैं ?"—साहब ने पूछा।

"बच्चे तो नहीं, माँ है, अपने बाप हैं, बीबियाँ है दो!"

होटल आ गया। साहब ने नौकर को बुलाकर सामान उठवाया, और दो रुपया ताँगे वाले की ओर बढ़ाते हुये कहा—"बस, ठीक है न? और तो नहीं माँगोगे?"

ताँगे वाले ने झुककर सलाम किया, कहा—"खुदा साहब को तंदुरुस्त रक्खे! जो हुजूर ने दे दिया वही काफी है!"

मुसकराकर साहब ने एक रुपया और दे दिया, कहा—"यह इनाम, तुम्हारे अच्छे बात के लिये है। देखो, तुमने इनाम माँग कर हमको तंग नहीं किया। इसलिये हमने तुमको दे दिया। बक-बक झक झक और इनाम के लिये फिर-फिर पीछे दौड़ने की आदत, जिसे होती है उसे हम कभी इनाम नहीं देते। वह हमे बड़ा नागवार मालूम होता है। इसीलिये देखा तुमने, आज सबेरे, हम उस होटल के बेरा के लिये रुके नहीं। तुम से जल्दी ताँगा बढ़ाने को कहा कि वह हमको पा न सके। हमने समझा वही इनाम के लिये बक-बक झक-झक करने आ गया होगा। अच्छा जाओ, सलाम; मालिक!" हँसते हुये साहब बिना उसकी ओर देखे अन्दर चले गये। विजय का वह नशा क्षणिक था और क्षण भर में साहब का हृदय अपने कमरे में पाँव रखते ही काँप उठा। कमरे में कोई और व्यक्ति मेज के किनारे पर लगी चौड़ी कुरसी पर टेक लगाये बड़े आराम से अपना पाइप पी रहा था।

"आइये!"—उसने कहा।

साहब का एक पाँव कमरे के बाहर था और एक अन्दर और किंकर्त्तव्य विमूढ़ से वे खड़े थे। क्षणभर में उनको स्मरण हो आया कि यह वही लंबा-सा पुलिस अफसर है जो वहाँ जाँच कर रहा था।

'घबड़ा मत मूर्ख !' मन ही मन फिर रटकर साहब आगे बढ़े और मेज पर सहारा देकर उसके सम्मुख खड़े हो गये, कहा—"मैं जानता था कि आप अवश्य आयेंगे। लेकिन मैं यही देख रहा था कि आप कितनी देर में पता लगा सकेंगे।"

वह कुछ न बोला। साहब की ओर अपनी धुँधली आँखें गड़ाये देखता रहा। साहब कहते गये—"मुझे कोई सफाई नहीं देनी है, न कुछ और कहना है। मैं यहाँ पर आया था केवल एक काम के लिये, वह उसका क़त्ल करना था और वह मैंने कर दिया है। अब आप मुझको जो करना हो कीजिये। जहाँ ले चलना हो ले चलिये।"

"आह, यह बात थी ! गुड् लक !"—कुरसी से धीरे से उठते हुये उसने कहा। और खिड़की से बाहर की ओर झाँककर हलकी सी सीटी दी। एक सिपाही दौड़ता हुआ अन्दर आ गया।

"मैं आपको गिरफ्तार करता हूँ। लेकिन मैं इसलिये नहीं आया था। मैं तो यही देखने आया था कि आप एक सज्जन पुरुष से दीखते हैं। फिर भी मेरी यह हैट जो वहाँ खूँटी पर टँगी थी क्यों चुरा लाये थे !" मेज पर उस हैट को जिसे साहब ने अभी रक्खा था उठाते हुये उसने कहा—"इसके अन्दर देखा आपने, कोने पर मेरा नाम लिखा है !"

साहब ने देखा - वह उनकी हैट न थी।

और-और वस्तुओं के साथ साहब की टोपी भी पुलिस ने अपने अधिकार में ले ली, वह होटल के बरामदे में एक खूंटी पर टँगी मिली।

९

सोच

धोबिन कपड़े लाई थी। माधुरी चौके में थी। दिवाकर ने कहा—"लाओ, मैं ही कपड़े मिला लूँ।" और दराज से कापी को निकाला। इतने दिनों तक माधुरी कपड़ों का हिसाब लिखती थी। दिवाकर को वह अजीब लिखावट देख कर हँसी आ गई। कुल डेढ़ पंक्ति में सारे बीस-इक्कीस कपड़ों के नाम और संख्या इस प्रकार एक के बाद एक पिचपिच कर के लिखी गई थी कि कठिनता से पढ़ सिलता था।

दिवाकर यों ही कम बोलते थे। अपनी पहिली मृत पत्नी से भी वह बहुत कम ऐसी छोटी-मोटी बातों के लिए कहा करते थे। और माधुरी के आने पर तो उन्होंने टीका-टिप्पणी करना और भी कम कर दिया था। इच्छा अवश्य होती थी कि जो काम बड़े भद्दे और प्राचीन ढंग से हो रहा है उसमें कुछ नवीनता—कुछ सरलता आ जाय; पर फिर विचार आता, वह भी तो एक ढंग ही है। काट छाँट कर जो पेड़ उगाया जाता है, वह भी कभी उतना सुंदर नहीं जँचता जितना अपने आप उगा हुआ कोई एक जंगली वृक्ष।

चौके में भोजन करने गये। सोचा—कहूँगा कि, साफ तरह से अलग-अलग कपड़ों के नाम अलग पंक्तियों में लिखा करो, जैसे मैंने आज लिख दिया है; पर जाने क्या सोच कर चुप रहे। माधुरी के स्वभाव से परिचित थे कि वह उनकी प्रत्येक बात को किस प्रकार बार-बार सोचती है। न जाने क्या-क्या अर्थ लगाने का यत्न करती है। सोचा—अब आज मैंने लिख दिया है। उसे वह देख ही लेगी, दूसरी बार से अपने आप लिखने लगेगी। न भी लिखा तो न सही। वही लिखती है वही जाँचती है, मुझे क्या।

उधर माधुरी खाना परोस रही थी और सोच रही थी—आज इन्होंने कपड़े जाँचे हैं। कुछ भी नहीं कहा। चुप हैं। कोई गलती तो नहीं रह गई? कोई कपड़ा लिखना रह तो नहीं गया था? उस बार मैं रूमालों को गिनना ही भूल गई थी। आज भी कोई गलती रही होगी। कुछ न कुछ हुआ अवश्य होगा। आए और खाना खाने बैठ गए। यह भी तो नहीं कहा कि—कपड़े सब ठीक हैं। वह बार-बार यही सोच रही थी कि—वे अवश्य कुछ कहें।

माधुरी को पारिवारिक जीवन का बिलकुल भी ज्ञान न था। माता-पिता किसी का भी उसे स्मरण न था। एक बूढ़ी चाची के साथ उसका शैशव कटा था और उसके बाद कुछ वर्ष उसने एक भीरु और लज्जाशील बालिका की तरह छात्रावास में ही सांसारिक वस्तुओं का अनुभव प्राप्त किया। वैवाहिक जीवन स्वप्न सा था। दो मास पहिले ही दिवाकर से उसका पाणिग्रहण हुआ था।

दिवाकर स्थानीय अंग्रेजी पाठशाला में अध्यापक थे। पहिली पत्नी की मृत्यु हुए अभी सात आठ महीने हुए थे। लोगों का अनुमान था कि पत्नी की मृत्यु के बाद उनका स्वास्थ्य ठीक न था। उन्हें कुछ प्रमाद सा हो गया था।

माधुरी यह सब जान गई है। यह नहीं कि उसे यह घर पसंद न हो। वह अपने पति से भी अप्रसन्न नहीं है। पर उसे अपने ही ऊपर भरोसा नहीं। एक-एक पाँव उसे फूँक-फूँक कर धरना होता है। घर में भी तो कोई नहीं जो उसे कुछ बतलाए। न सास, न ससुर, न जेठ, न ननद। बस बुढ़िया महरिन है और एक छोटा सा पाँच वर्ष का देवर है मुन्ना। बुढ़िया महरिन को इसी घर में रहते न जाने कितने वर्ष हो गये हैं। शायद दिवाकर का जन्म भी उसके सामने की घटना है। उसे इस घर के एक-एक दिन का इतिहास ज्ञात है। पर वह ज्ञान उसी तक सीमित है। आज उसका जन्म-दिन है, आज अमुक की बर्षी के लिए ब्राह्मणों को खिलाना है; इसके अतिरिक्त वह माधुरी को उस घर के विषय में कुछ भी नहीं बता पाती। हाँ, कभी किसी नई बात को इस घर में होते देख उसकी अधढँकी आँखें खुल जाती हैं और वह कह उठती है—"पुरानी बहू तो ऐसा करती थी।

अनुभवहीन होने का विचार माधुरी को बार-बार खटकता है। दिवाकर की गुमसुम गम्भीर मुद्रा को देख कर उसे बार-बार यही भास होता है कि, मैं उनका हृदय न पा सकी। मैं पुरानी बहू' सी बिलकुल भी नहीं हूँ। बात-बात पर वह यही सोचा करती कि, पुरानी बहू क्या करती थी, कैसे रहती थी, उसका दैनिक जीवन क्या था, उसे कौन सी चीज भाती थी? पुरानी बहू की कृतियाँ विच्छिन्न मूर्ति के शिलाखण्डों की भाँति एक अथाह अज्ञात सागर के तले बिखरी पड़ी थीं। उन्हीं को एकत्रित करके वह 'पुरानी बहू' की एक मूर्ति बनाती थी और फिर उसी मूर्ति के समान स्वयं बनना चाहती थी। लेकिन एक एक डुबकी पर साँस टूट जाने का डर रहता था; मृत्यु का सा भय था, पर फिर

भी 'उनके' हृदय में स्थान पाने की उसे यही एकमात्र आशा थी।

दिवाकर खाना खाकर चले आए। पर उन्होंने कपड़ों के विषय में कुछ भी नहीं कहा। कपड़े पहिन कर स्कूल जाने को तत्पर हुए तो माधुरी से न रहा गया। महरिन पान लगा रही थी। झट उससे पान का बीड़ा ले कर पहुँची और पानदान उनकी ओर बढा दिया, पूछा—"कपड़े तो ठीक निकले?" दिवाकर जिस बात से बचना चाहते थे वही सामने आगई। पान मुँह में रखकर डिब्बा जेब में डाला और जूता पहिन कर बाहर निकल आए। कुछ सिर हिला कर और कुछ भरे हुए मुँह से बोले —"हाँ, ठीक थे।"

पर माधुरी को इससे तृप्ति न हुई। वह तो सुनना चाहती थी कि अमुक गलती हुई। अब भी उसका हृदय खटक रहा था कि वे कुछ और कहेंगे कि पान की पीक थूक कर दिवाकर ने कहा—"कपडों के नाम एक ही पंक्ति में लिख देती हो, पढ़ा भी नहीं मिलता, कापी मे देख लेना कैसे लिखा जाता है, लिखा होगा।" और चले गये। पर फिर एकाएक उन्हें विचार आया कि चुप रहता तो ठीक था।

माधुरी सोचने लगी—महरिन कहती थी कि मैं रत्ती भर भी घर का रीति-रिवाज नहीं जानती। आज उनको भी ज्ञात हो गया। धोबी का हिसाब तक लिखना मुझे नहीं आता। इतनी सी बात! मै कैसी मूर्खा रही, पुरानी कापियाँ तक मैंने नहीं उलटीं, देखा तक नहीं कि कैसे लिखते हैं।

झट जाकर उसने दराज खोली। एक पुरानी हिसाब की कापी मिल गई। खोल कर देखा—वह कितना अच्छा लिखती थी, कितना साफ है! पेज में लाल लकीरों द्वारा चार खाने किए हैं। कोने पर तारीख लिखी है। कपड़ों के नाम अलग-अलग

लिखे हैं। दूसरे खाने में तादाद और तीसरे में धुलाई के दाम लिखे हैं। यह कापी कभी उसी के हाथों में रही होगी। इसी प्रकार बैठकर वह लिखती होगी। धोबिन आती होगी और वह कलम से—इसी क़लम से, लिखती होगी। इसी प्रकार—

सहसा महरिन ने कहा—"क्या आज खाना न खाओगी बहू?"

माधुरी घबड़ाकर जल्दी से उठी, मानो उसे महरिन ने चोरी करते पकड़ लिया हो।

(२)

आलमारी में रामायण की एक पुस्तक थी। मुन्ना से पूछने पर माधुरी को ज्ञात हुआ कि यह उन्हीं पुरानी माभी की है। वे बहुधा शाम को इसे पढ़ा करती थीं। माधुरी ने उलट-पलट कर उसे देखा। कवर के अंदर पहिले पेज पर लिखा था—'जानकी देवी।' जानकी देवी! ओह, यही उसका नाम था—जानकी देवी माधुरी मन ही मन उस नाम को पुकारने लगी। इस नाम के लेते ही एक अजीब कॅपकॅपी सी उसके हृदय में होने लगी। वह सोचने लगी—उसीने एक दिन यहाँ पर यह अपना नाम लिखा होगा। कैसा 'ज' लिखा है। कितने महीन और सुंदर अक्षरों में लिखा गया है! कभी-कभी इसी मसनद पर बैठी जानकी इस पुस्तक को हाथ में लिए पढ़ती होगी। मुन्ना आकर सुनता होगा। उसकी गोद में बैठ जाता होगा। वह पढ़ती रहती होगी। कमरे में उसके उच्चारित शब्दों की ध्वनि गूँजती होगी। वे टहल कर आते होंगे। उसे रामायण पढ़ते सुनते होंगे। आकर अपने कमरे में चुपचाप चले जाते होंगे। धीरे-धीरे वह एक कांड समाप्त करके उठती होगी। मह- रिन तब तक उसके लिए खड़ी रहती होगी! तब जाकर वह खाना बनाती होगी! जानकी, कितना अच्छा नाम है!

कहीं मेरा भी यही नाम होता !

कलम उठाकर उसने भी ठीक उसी नाम के नीचे लिखा 'जानकी देवी', पर उसके लिखे अक्षरों में वह बनावट—वह सुन्दरता न आ पाई। वह उतना अच्छा लिख ही नहीं सकी। फिर उसी के नीचे उसने अपना नाम लिखा 'माधुरी देवी' पर यह बिलकुल ही नहीं जँचता था। उसकी लिखावट कुछ और ही थी। सहसा उसे विचार आया—मैंने यह क्या कर दिया; वे देखेंगे तो क्या कहेंगे ? मैंने तो सारा पेज ही बिगाड़ दिया। जानकी, माधुरी, क्या-क्या लिख डाला; कैसी गँवार हूँ सोचा तक नहीं ! वे कहेंगे मैं उसकी नकल कर रही थी। मैंने कैसा भद्दा लिखा है !

चाकू लेकर उसने उस पृष्ठ को बिलकुल किनारे से काट कर पुस्तक से ही अलग कर दिया। उस पुराने 'जानकी' को देखकर उसे भय सा हो रहा था। उस फटे हुए पृष्ठ को उसने अपने हाथ में ले लिया। उसका हाथ काँप रहा था। मानो किसी अधमृत साँप को उठा लिया हो, जिसके फिर जी उठने की आशंका हो। नोच-नोच कर उसने उस कागज के टुकड़े-टुकड़े कर डाले और उन टुकड़ों को मुट्ठी में भर लिया। लेकिन उसे यह अब भी ज्ञात था कि इन टुकड़ों में से किसमें अब तक वह जानकी का लिखा पतला, महीन सा सुंदर 'ज' है, कहाँ 'न,' और कहाँ लम्बी काढ़े हुए घूँघट सी वह 'ई' की मात्रा है। भरी हुई मुट्ठी को खिड़की से बाहर निकाल कर उसने उन टुकड़ों को फेंक दिया। उड़ते हुए टुकड़े उन छोटी-छोटी फूल की क्यारियों पर तितलियों की भाँति चिपकने लगे। पर अब भी उसे वह 'ज' और 'न' और 'ई' का घूँघट दिखलाई दे रहा था। वह सोचने लगी—मैंने अच्छा नहीं किया। उड़ते हुए कागजों को देख कर यदि उन्होंने

किसी को उठा कर देखा और उनको याद आ गया तो अनर्थ हो जायेगा ! मैंने व्यर्थ ही उस पृष्ठ को फाड़ दिया। लगा रहता तो क्या बुरा था।

उठकर फूलों के पास गई। बीन-बीन कर फिर उन सब टुकड़ों को जमा किया। फिर मुट्ठी में भर लिया। और अंदर चली आई। चौके में आग जल रही थी। मुन्ना को नहलाने के लिए पानी गरम हो रहा था। महरिन वहाँ न थी। चुपके से उसने अपनी मुट्ठी जलती हुई लपटों के ऊपर खोल दी। टुकड़े जलने लगे। सब जल गये। पर उस मृत श्वेत राख पर भी वह 'अ' दिखलाई दे रहा। जल कर उसका आकार और भी संकुचित — और भी सुंदर हो गया था जलती हुई लपटों में वह कभी ऊपर और कभी नीचे उसी सीमित क्षेत्र में घूम सा रहा था। माधुरी उसकी ओर एकटक देख रही थी। सहसा महरिन के आ जानेसे हवा का हलका सा झोंका आया और वह राख का टुकड़ा न जाने फट कर क्या हो गया।

"जाड़ा होता हो तो अँगीठी में वहीं कोयले क्यों नहीं मँगा लिए। वे बहूजी तो जाड़े के दिनों में कोने पर जो बड़ी अँगीठी है उसे ही बैठक के कमरे में रक्खे रहती थी। कोयले तो बाबूजी ने कब से मँगा रक्खे है।—" महरिन बोली।

माधुरी उठकर चली आई। और फूलों के पास धूप में खड़ी खड़ी सोचने लगी, जानकी बैठक में अँगीठी के पास बैठती थी। कोयले उन्होंने कब से मँगा लिए है। मुझसे कहा तक नहीं, कोयले जलाये जाते हैं। महरिन से कहूँ, आज से अब कोयले जलाना। अँगीठी साफ कर लो। पर अब तक तो जलाये नहीं। अब तो जाड़ा भी समाप्त हो चला। अब अगर जलाने को कहूँ तो हँसी होगी। महरिन कहेगी, अब तक तो इसे ख्याल भी न

था, अब मेरे कहने पर जलाने लगी है, पूरी गँवार है; बड़े घरों की बात क्या जाने ! अब न जलाऊँगी। इन फूलों को जानकी ने लगाया होगा। कैसे सुन्दर गमलों की पंक्ति सी बनी है ! इतनी छोटी सी जगह में इतने भिन्न भिन्न प्रकार के फूल किस प्रकार सजा कर लगाए हैं। वही इन सबको बो गई होगी। यहीं पर आकर वह धूप सेंकती होगी। उसके हाथों में ऊन का गोला और तीलियाँ रहती होंगी। वह उनके लिए पुलओवर बुनती होगी। मुन्ना आकर उससे खेलता होगा। शाम होते ही वह अंदर चली जाती होगी। वहाँ पर बैठक में अँगीठी जलती रहती होगी। उसी के समीप वह बैठ जाती होगी। वे भी आते होंगे। आग के समीप बैठ कर... .

इस साल तो जाड़े का मौसम अब बीत ही चुका है। उन्होंने आग के लिए कुछ भी नहीं कहा। घर आते ही ओवर-कोट उतार कर कनात ओढ़ लेते हैं। उन्होंने सोचा होगा कि, माधुरी को आग तैयार करवानी चाहिए। लेकिन मुझे कभी इसका ध्यान ही नहीं रहा !

मुन्ना कुर्सीपर बैठा था। दिवाकर कंबल लपेटे चारपाई पर बैठे-बैठे उसे कुछ पढ़ा रहे थे। माधुरी ने आकर कहा—"जाड़ा लगता हो तो अँगीठी में कोयले जला दूँ।" वह आगे कुछ न कह सकी, आँखें डबडबा आईं। फिर मुँह फेरकर कहने लगी—"मुझे क्या मालूम था कि जाड़े के दिनों में घर में अँगीठी जलती है। किसीने बतलाया भी नहीं, अपने आप कैसे जान जाती !" आँसू 'टप्-टप्' गिरने लगे।

उधर दिवाकर सोचने लगे—महरिन जितनी बूढ़ी होती जा रही है उतनी ही उस की बुद्धि भ्रष्ट हो रही है। न जाने आज उसने क्या कह दिया। शायद कहा होगा कि बाबू के लिए अँगीठी

नहीं जली। लेकिन इसकी आवश्यकता ही क्या थी। अब इसे क्या कहा जाय? बोले—"अभी तो उतना जाड़ा भी नहीं पड़ता है। कोयले मँगा लिए हैं, जब और जाड़ा होने लगेगा तो जला ली जायेगी। इसमें परेशान होने की क्या बात है?"

मुन्ना ने कहा—"दद्दा, जब पानी पड़ेगा तब जाड़ा होगा तब अँगीठी जलेगी। तब दिन भी बहुत छोटा होगा। रात बहुत लम्बी होगी, महरिन बहुरंगी और नौरंगी की कहानी सुनायेगी।"

माधुरी चली आई। पहिले तो उसे दिवाकर का उत्तर सतोषप्रद न जँचा। पर फिर वह सोचने लगी—अगर अधिक ठंडक पड़ती तो वे स्वयं मुझे इसके लिए कहते, मैं व्यर्थ उनके पास गई, मेरे आँसू भी निकल आये। इतनी-सी छोटी बात थी और मैं रो पड़ी! वे मन ही मन कहते होंगे—निरी बच्ची है। वे मुझे अभी बच्ची ही समझते हैं। मुन्ना की तरह मैं उनके स्नेह की भाजन हूँ। उसी की भाँति पालनीय हूँ। मैं उनकी पहिली पत्नी की तरह कहाँ हूँ? जानकी होती तो कभी ऐसा न करती। मुझे स्वयं अँगीठी जलाकर उनके पास रखवा देनी थी। वे पूछते—"किसने जलवाई?" तब महरिन मेरा नाम लेती। तब प्रसन्न होते, तब कहते—उसमें दूरदर्शिता है। पर बिना सोचे-समझे मैं उनके पास चल दी। अब, अब उनको इस समय यदि जाड़ा लगता भी होगा तो कभी कोयले न जलवायेंगे!

(३)

बाहर रिमझिम-रिमझिम पानी बरस रहा था। माधुरी का माथा बाँई ओर जोर से दर्द कर रहा था। चारपाई पर वह छत की ओर मुँह किये लेटी थी। एक छिपकिली चक्कर लगा रही थी। एक कील पर मक्खियाँ लगा थीं। उन्हीं की ताक में थी। जब छिपकली ने धावा किया तो सब की सब उड़ गईं। दो-तीन

ने जाकर एक दूसरी कील का—जो दीवाल के बीचों-बीच गड़ी थी—आसरा लिया। माधुरी इन्हीं की ओर देख रही थी, इस कील के किनारे-किनारे एक पतली सी धुँधली रेखा दीवाल पर बनी थी। फिर एक मक्खी उड़कर ऊपर गई और उसी कील से थोड़ा ऊपर एक और कील पर, जो बिलकुल दीवाल के रंग की थी, जाकर बैठ गई। उस कील के किनारे भी ऐसी ही काली पतली लकीर बनी थी। माधुरी सोचने लगी—यहाँ पर कोई चित्र टँगा रहा होगा। शायद जानकी का चित्र रहा हो। शायद मेरे यहाँ आने से कुछ ही पहिले उन्होंने उसे यहाँ से उतारा होगा। सोचा होगा—मुझे वह अच्छा न लगेगा। एक दिन टहलते-टहलते हम दोनों इस कमरे में आयेंगे। मैं तसवीरों को देखने लगूँगी। वे मुझे समझाने लगेंगे—यह तब का चित्र है जब मैं म्योर कालेज में पढ़ता था। उस समय मैं मूछें रखता था। और यह तब का है, जब हम सब भाई बहिन केवल की शादी के अवसर पर एकत्रित हुए थे। बीच में पिता जी खड़े हैं। यह माता जी का अन्तिम चित्र है।' और फिर वे इस तसवीर के पास आते (जिसके स्थान पर अब केवल यही दो कीलें बची हैं।) कहते—'यह बेचारी जानकी का चित्र है; शादी से पहले का। पिता जी ने रँगाया था। मैंने बाद में उसे 'इनलार्ज' करा कर यहाँ पर लगवा दिया।' फिर वे मेरी ओर देखते और कहते—'तुम कहो तो अब इसे उतार दें।' उनके होठों पर हँसी होती। मैं कुछ न बोलती। वे कहते 'लो तुम चुप हो; मैं इसे अभी उतारे देता हूँ। इसे वहाँ लगा दूँगा। यहाँ पर ठीक नहीं पड़ता।' मैं अब भी चुप रहती। वे उतारने लगते। तो मैं बोलती—'नहीं, नहीं, रहने दीजिए। मुझे बड़ा अच्छा लगता है।' वे कहते—'नहीं, इसे अब अन्दर के कमरे में लगाऊँगा। यहाँ पर

अब तुम्हारा फोटो रहेगा। मैंने अब तय कर लिया। यही सोच कर मैं यहाँ आया था।' मैं उन्हें न उतारने देती और कहती—'यह यहीं अच्छा जँचता है। मेरा फोटो इसी के सामने उस दीवाल पर लगा दीजिए, वहाँ पर अच्छा रहेगा। दीवाल भी वहाँ पर खाली है। बडी समानता आ जायेगी।'

"भाभी लो दवा लाया हूँ।"—मुन्ना ने अपनी तोतली भाषा में कहा और वह विचारों का तार एकाएक टूट गया।

"मुन्ना, देखो वहाँ पर एक कील है।"—माधुरी ने उँगली उठा कर बतलाया, "जहाँ मक्खी बैठी है।"

"हाँ।"

"काली-काली तिरछी लकीरें हैं।"

"हाँ, और वैसी ही लकीर ऊपर भी।"

"बताओ तो, वह क्या रहा होगा?"—माधुरी ने पूछा।

"बता दूँ क्या होगा?"

"हाँ।"—माधुरी उत्सुक नेत्रों से उसकी ओर देख रही थी।

"वहाँ पर एक तसवीर थी। मेरी, मैंने हैट पहिना था। दद्दा की, और पुरानी भाभी की।"

"अब कहाँ गई?"

"भाभी अब मर गई, ऊपर चली गई आसमान में।"

"नहीं वह तसवीर तुम्हारी, दद्दा की और भाभी की?"

"दद्दा ने उतार दी होगी। शीशा टूट गया होगा। ननकुआ ने जब कमरे में चूना लगाया तो उसको जोर से फ़र्श पर गिरा दिया। फूट गया था। भाभी ने बदलवाया था और फिर तसवीर वहीं पर टाँग दी थी। महरिन भी तो बहुत तोड़ती है। अब इसी ने तोड़ा होगा। अच्छा, तुम यह दवा न लोगी? एक गोली खाकर जल्दी से पानी पी लो। सुंदरिया की माँ ने भेजी है।"

माधुरी ने गोली ली और वहीं सिरहाने पर रख दी। उसके माथे में पीड़ा हो रही थी। धुप-धुप, धुप-धुप,—सारी नसें धुधुक रही थीं! माथा हथेली से दबाकर फिर उसने पूछा—

"तुमने हैट पहिना था। दद्दा ने?"

"काली टाई, बक्स में जो रक्खी है?"

"उन मामी ने क्या पहिना था?"

"चप्पल, जूता जैसा।"

"कैसा?"

"बताऊँ कैसा? जैसा मेम साहब पहिन के आई थीं।"

"और क्या पहिना था, साड़ी?"

"हाँ।"

"कैसी थी?"

"बतला दूँ? नई नई, और तसवीर में निकली थी काली-काली?"

महरिन एक गिलास में पानी ले आई, बोली—

"लल्ला, आज तख्ती न लिखोगे? अभी तक रामूसी कोरी पड़ी है!"

मुन्ना बड़ी अन्यमनस्कता से उठ कर चल दिया। माधुरी ने पानी का एक घूँट पिया। दवा रक्खी रही; और मुँह ढाँप कर फिर लेट गई। महरिन मुन्ना के पीछे चली गई।

माधुरी सोचने लगी—उन्होंने वह चित्र क्यों उतार दिया? मैं कभी उसके उतारने को न कहती। उसमें जानकी (अब भी इस नाम का स्मरण होते ही, एक कठिन शीतल कँपकँपी उसकी पीठ तले दौड़ गई) उनकी बाईं ओर खड़ी होगी। मुन्ना बीच में कुर्सी पर बैठा होगा। एक दिन शाम को फूलों के गमलों के पास कुर्सियाँ लगी होंगी। फोटोग्राफर आया होगा। उन्होंने

कहा होगा—'चलो अब उसने ठीक कर लिया है; बस बैठने भर की देर है।' हँसते-हँसते दोनों गये होंगे। एक-दो-तीन। और फोटो खिंच गया होगा। प्रूफ आया होगा। जानकी ने कहा होगा—मेरी नई नई साड़ी बिलकुल मैली काली-काली निकली है।' उन्होंने कहा होगा—'देखो, मुन्ना को हैट कितनी अच्छी जँचती है; पहिचाना नहीं जाता।' फिर तसवीर बनकर आई होगी। उस पर फ्रेम चढ़ाया होगा। जानकी ने स्वयं कमरे में आकर वहाँ पर वह तसवीर टँगवाई होगी। फिर एक दिन कमरे की सफाई हुई होगी। सब तसवीरें निकाली गई होंगी। उसे मजदूर ने जोर से जमीन पर रख दिया होगा। टूटा शीशा देख कर जानकी ने मजदूर को डाँटा होगा। 'तसवीर को ऐसे डाल दिया मानो घास का पूला है! काँच टूट गया है। तुम्हारे पैसे कट जाएँगे।' फिर तसवीर पर काँच चढ़वाया गया होगा और फिर वहीं पर वह टँगी होगी। फिर एक दिन उन्होंने मेरी आशंका से उस तसवीर को उतार दिया होगा। मैं आज उनसे पूछूँगी—आपने क्यों उस तसवीर को वहाँ से उखाड़ दिया? सूनी सी दीवाल अच्छी नहीं लगती, फिर वहीं पर लगवा दीजिये। मैं रोज जानकी को देखूँगी। मैं उसे देखना चाहती हूँ। न जाने वह कैसी थी। मैं भी वैसी ही बनना चाहती हूँ।...पर, ऐसा न कहूँगी। न जाने वे क्या सोचने लगेंगे। पहिले तो वे झिझकेंगे; पूछेंगे, 'तुम को कैसे ज्ञात हुआ?' फिर टाल देंगे। मुझे प्रसन्न रखने के लिए शायद कभी उसे फिर न टाँगेंगे। न जाने कहाँ उन्होंने उसे छिपा रक्खा है! शायद तोड़ कर फेंक दिया हो; जब उसकी मृत्यु के बाद उनकी तबीयत ठीक न थी। मुन्ना कहता है वे आँगन में चक्कर लगाते थे; इधर से उधर, उधर से इधर! खाने तक की याद न रहती होगी। सुबह का खाना शाम तक

पड़ा रहता होगा।—बायाँ माथा सुबुक रहा था—धुप-धुप! उसने कराकर मुँह ढाँप लिया। और आँखें मूँद लीं। उसने जानकी का बोलना सुना। वह कमरे में आ रही थी। उसके हाथ में एक दवा थी। उसने जानकी की ओर देखा। उसकी दृष्टि में बड़ी सहानुभूति, बड़ी सुजनता, बड़ी मधुरता थी। लेकिन जल्दी से फूलों के गमले सामने आ गए। फिर कैमरा आया। फिर मुन्ना की हैट। बुढ़िया का गिलास का पानी। काली-काली टाई। फिर सब धुँधला हो गया, सब मिलकर गड़बड़ हो गया और माधुरी को नींद आगई।

(४)

स्कूल में साहब आने वाला था,—डाइरेक्टर। दिवाकर ने माधुरी से कहा—"काले ट्रंक में सूट है एक नीला। कोट, पतलून वास्केट। टाई भी वहीं होगी। ले आना।"

बड़ा-सा ट्रंक था, कपड़ों से भरा। नेप्थलीन की बू चल रही थी। न जाने क्या क्या कपड़े थे। एक के बाद एक—एक के बाद एक। नीला सूट सबके नीचे था। तीनों चीजों को निकाल कर अलग रक्खा और कपड़ों की फिर तह करके वहीं रख दिया। कपड़े लेकर बाहर आई।

दिवाकर ने कहा—"टाई?"

माधुरी फिर लौट कर गई, फिर कपड़ों को निकाला, फिर बक्स को तले तक खाली किया। टाई निकालने लगी तो उसका हाथ लगा एक ऊँची-नीची चिकनी खुरदरी चीज पर। ट्रंक के तले कागज था। कागज के नीचे वह चीज थी। जरा सा कागज हटाकर देखा। शीशा, फ्रेम, तसवीर! उसका हृदय धड़कने लगा; धक्-धक् धक्-धक्! मुन्ना की हैट, उसकी टाई और जानकी! वह देखती रह गई।

"नहीं मिली क्या ?"—बाहर से दिवाकर ने पुकारा। घबड़ा कर माधुरी ने कपड़ों को ऊपर से डाल दिया और टाई देने दौड़ गई। रास्ते में बुढ़िया खड़ी थी। ऐसा धक्का लगा कि बुढ़िया सिर थाम कर बैठ गई। अपना भी सीढ़ियों के पास पैर फिसलते ही बचा।

दिवाकर ने टाई पहिनी, चलते बने। बुढ़िया की 'दैया रे!' सुनी, पर गुमसुम रहे और आज माधुरी को भी उनकी चुप्पी नहीं खटकी। उसका ध्यान ही उस ओर न था।

माधुरी ने कपड़ों को सँभाल कर रक्खा। तसवीर को उठा लिया। और अपने कमरे में आकर चारपाई पर बैठ गई। बाहर जाकर देख लिया—बुढ़िया कुएँ पर थी और मुन्ना सुन्दरिया से खेल रहा था।

माधुरी तसवीर को ध्यान से देखने लगी। उसका हृदय हथौड़े की चोटें दे रहा था। दिवाकर ने वही सूट पहिना था जो वे आज पहिन कर गये थे। वही टाई थी। माधुरी से न देखा गया। उलट कर उसने तसवीर को तकिए के नीचे दबा दिया। कमरे में चक्कर लगाने लगी इधर से उधर, उधर से इधर। सोचने लगी—इतने दिनों तक मैं समझ कर भी व्यर्थ न समझने की चेष्टा करती रही। मुझ में न वह रूप है न वे गुण हैं और न वह शील है जो जानकी में था। न मैं उनकी किसी काम में सहायक ही हूँ। मैं एक आश्रिता की भाँति इस घर में हूँ। उन्होंने इस चित्र को अपने ही बक्स में रक्खा था। तोड़ क्यों नहीं दिया, कूड़े-करकट में क्यों नहीं छोड़ दिया? सँभाल कर रक्खा है। कभी-कभी जब मैं बाहर टहलने चली जाती हूँ या रात्रि के अंधकार में जब मुझे नींद आ जाती है तब वे चुपके से अपना ट्रंक खोलते होंगे। कपड़ों के एक दम नीचे हाथ डालकर इसे निका-

लते होंगे। उनका हाथ इसी पर जा पड़ता होगा। निकालकर वे इसे देखते होंगे। खूब देखते होंगे। आँसू भर आते होंगे। फिर चुपचाप एक बार हृदय से लगाकर वे इसे बक्स में रख देते होंगे। न जाने कितने दिन उन्होंने ऐसा किया है। आज भी तो वे उसी सूट को पहिन कर गये हैं। वही कोट है, वही पतलून और टाई। एक दिन जानकी ने उठा कर इनको दिया होगा उन्हीं को पहिनने के लिए। और आज मैंने उन्हीं कपड़ों को उनका दिया है। 'इन्हीं हाथों से'

वह फिर चारपाई पर गई। फिर उसने उस तसवीर को देखा। डोरी लगी थी। रिंग भी था। धूल का नाम न था। सोचने लगी—कितनी साफ है! मानो अभी बनकर आई है। उन्होंने इस प्रकार कभी गर्द भी न बैठने दी होगी। उसके मरने के बाद उन्होंने सदा इसे अपने पास रक्खा होगा।

तसवीर पास ही पड़ी थी। सोचा—मैं इसे अभी तोड़ दूँगी, टुकड़े करके जला दूँगी। यदि वे मुझे चाहते होते तो क्यों इस तसवीर को इतनी बहुमूल्य समझते, क्यों इस प्रकार छिपाकर रखते? पर, नहीं, जानकी मेरी उपास्य देवी है। वह मेरा आदर्श है, मैं उसका अनुकरण करूँगी। मैं भी उसी की भाँति एक दिन उनके हृदय में स्थान पा जाऊँगी। प्रतिहिंसा की यह प्रवृत्ति और जानकी के जड़-चित्र से? मैं स्वप्न देख रही थी। मैं इसे वहीं पर टाँगे देती हूँ।

उसी समय उठकर उसने एक स्टूल के सहारे उसे उसी कील से लटका दिया और एकटक देखने लगी। उसके हृदय में विजय का सा उल्लास था। और उसे ऐसा भास हो रहा था मानो वह सचमुच नींद से जग कर उठी हो और उसका मस्तिष्क किसी बुरे स्वप्न के प्रभाव से अभी तक शिथिल हो।

कुछ हटकर वह दूर से उस चित्र को देखने लगी। इसी प्रकार यह चित्र यहीं पर टँगा रहता होगा। अब यह कमरा सजीव सा लगता है।

चित्रकार चित्र के समाप्त करने पर जिस प्रकार प्रसन्न होकर उसे छोड़ कर चल देता है दर्शक की खोज में, उसी प्रकार प्रसन्न होकर वह भी कमरे से बाहर निकली। पर न मुन्ना से उसके विषय में कहने की हिम्मत पड़ी और न बुढ़िया से। बार-बार कितने बहाने बनाकर वह उस कमरे के अन्दर आई और बाहर गई। और हर बार दो-चार क्षण उस चित्र को ध्यान से देखती रही।

उधर दिवाकर स्कूल से लौट रहे थे, तो रास्ते में वही तस्वीर वाले की दूकान मिली। आज महीनों बाद खुली थी। "क्यों मियाँ साहिब अली, उस तसवीर पर शीशा अब तक नहीं चढ़ा क्या ?—" दिवाकर ने पूछा। बुड्ढे को देखते ही उनको याद आया कि सात आठ महीने पहिले उन्होंने एक तसवीर—वही मुन्ना की, अपनी और जानकी की—इन मियाँ को शीशा चढ़-वाने दी थी।

"आदाबअर्ज मास्टर साहब !"—बुड्ढे ने झुक कर सलाम किया और कहने लगा—"हुजूर, वह तसवीर तो कब की बन कर गई। वकील साहब, जो म्युनिसिपैलिटी के सिक्रेटरी हैं वही ले गये। कहा था कि मास्टर साहब आवें तो कह देना कि वकील साहब ले गए।"

"अच्छा !"—दिवाकर ने कहा। उनको याद आ गया कि जानकी के भाई कृपाशंकर ही तसवीर ले गये होंगे। कई दिनों से कह रहे थे कि बहिन की कोई तसवीर हो तो देना।

❀ ❀ ❀

माधुरी कमरे में बैठी सोच रही थी—बार-बार उसके हृदय

में यही विचार आता था कि—अब उसे उतार कर रख दूँ, और उसी प्रकार बक्स में बन्द कर दूँ। अब वे आते ही होंगे। हर क्षण वह सोचती—अब मुझे उठ जाना चाहिए। उसे उतार देना चाहिये। फिर भी मानों किसी अज्ञात वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा उसे रोक लेती थी। उसे याद भी नहीं रहा कि कितनी देर तक वह ऐसी दुविधा में बैठी रही कि बाहर दिनाकर के जूतों की आवाज ने उसे चौंका दिया। घबड़ा कर दरवाजे पर खड़ी हो गई कि वे अन्दर न आ पावें। दिवाकर दूसरे कमरे में गये और कपड़े उतारने लगे। माधुरी सोचने लगी—अब मैं उसे न उतारूँगी। उनसे पूछूँगी कि आपने इसे अपने बक्स में क्यों छिपाया था? आप जानकी को इतना अधिक चाहते थे आज मुझे ज्ञात हुआ। आज मैं यही उनसे कह दूँगी कि—आपके हृदय में मेरे लिए बिलकुल भी स्थान नहीं है। मैं आपके योग्य नहीं हूँ। वह फिर कमरे में आई और सिसक-सिसक कर रोने लगी। उसे आँख उठा कर अब उस चित्र की ओर देखने का साहस न हुआ जिस पर वह दिन भर टकटकी लगाए थी। सोच रही थी—मेरा इस घर में कोई नहीं और न संसार ही में कोई है, जिसके सम्मुख मैं अपने हृदय का बोझ हलका करूँ। दिवाकर कमरे की ओर आ रहे थे। माधुरी ने जल्दी से अपने आँसू पोंछने की चेष्टा की। उनके कमरे में पैर रखते ही उसके मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं।

दिवाकर की दृष्टि दीवाल पर टँगे चित्र-पर पड़ी। "यह कहाँ से आ गया?"—वे पूछने को ही थे कि चुप हो गए। उनको याद आ गया कि जानकी ने एक चित्र अपनी माँ को भेजने के लिए बनवाया था, मेरे बक्स में रक्खा था; आज बुढ़िया ने यहाँ पर लगवा दिया होगा।

माधुरी के माथे पर पसीना आ रहा था और हृदय धड़क रहा था—"मैं बड़ी मूर्खा हूँ। न जाने वे क्या सोच रहे है! मैंने आज फिर एक और बच्चों की सी गलती कर दी। अब मैं उनकी आँखों मे बिलकुल ही गिर जाऊँगी सोचा भी नहीं। उनके बक्स से चित्र चुरा लाई और टाँग दिया!"

दिवाकर ने माधुरी की ओर देखकर शान्त भाव से कहा—"चलोगी आज सिनेमा देखने? अच्छा फिल्म है।"

माधुरी ने उनकी ओर देखा—वही गुमसुम गम्भीर मुद्रा।

१०

डाक्टर और नर्स

इँग्लैण्ड में—

हैम्पस्टेडशायर के मुहल्ले में तीसरी सड़क पर चौथा मकान रिनौल का था। उसी परिवार में अरुणकुमार भी रहता था। छात्रावास में रहने से उस परिवार में रहना अधिक सस्ता था। भोजन और फीस के अतिरिक्त और सब प्रकार के घरेलू खर्च का प्रबन्ध रिनौल कुटुम्ब के मत्थे था। जिसके लिए अरुण को पन्द्रह शिलिंग प्रति सप्ताह देने पड़ते थे।

अरुण यह न जान सका कि रिनौल आखिर करता क्या है और कहाँ से इतना रुपया व्यय करने के लिए इसके पास आता है? रोज-रोज नई-नई पोशाकें पहिन कर वह बाहर निकलता है। मिसेज रिनौल भी कम तड़क भड़क से नहीं रहतीं। कई नौकर और नौकरानियों के अतिरिक्त कितने ही और मित्र भी उससे सहायता पाते हैं। देहात में जो जमीन और आलू का फार्म है, वह भी बहुत बड़ा नहीं है। पर अपने साथियों से उसने सुना था कि आय-व्यय और उपार्जन के प्रश्न अँग्रेजी समाज में अशास्य समझे जाते हैं। इसीलिए यद्यपि सभी छोटी-मोटी बातों को

वह मिस रिनौल और मास्टर रिनौल से पूछ लेता, पर अपनी इस जिज्ञासा का समाधान वह न कर सका।

प्रातःकाल का समय था। एक बुढ़िया नौकरानी मई की सुन्दर धूप में बाँझ के पेड़ के उस ओर एक मेज पर रिनौल दंपति के लिए नाश्ता सजा रही थी। रिनौल दंपति रात के लम्बे-लम्बे स्लीपिंग कोट पहिने हुए अपने उपवन की पगडंडियों पर फूलों की देख-भाल-सी कर रहे थे। इतने में अखबार का एक फटा तिकोना टुकड़ा उड़ता हुआ परपालिया की छोटी-छोटी क्यारियों पर इधर-उधर हवा से फड़फड़ाने लगा। रिनौल ने अपना स्लीपर जमाकर उसे दबा कर रोकना चाहा, पर वह फिर उड़ गया और कई ओस की भीगी सुकुमार पंखड़ियों को उसने गिरा दिया।

रिनौल ने उत्तेजित होकर अंग्रेजी में कहा—"ओ डैम, यह उसी हिन्दुस्तानी छोकरे का है। देखो वे कैसे गंदे और लापरवाह होते हैं। क्या वह उसे मेज के नीचे, कूड़े की अपनी टोकरी में नहीं डाल सकता था ?" कागज का तिकोना टुकड़ा फिर फड़फड़ाता हुआ मिसेज रिनौल के घुटने पर आ गया और हवा से कुछ चिपक-सा गया। मिसेज रिनौल ने उसे अपने हाथ से हटाते हुए कहा—"हाँ यह हिन्दुस्तानी भाषा का अखबार उसी का है। लेकिन देखो, इस पंक्ति के नीचे लिखी हुई हिन्दुस्तानी अक्षरों की बनावट, गुथे हुए हार-सी कैसी भली लगती है ? यह देखो, यह हिन्दुस्तानी 'एल' है—हमारे नाम का आखिरी अक्षर 'ल्'कितना अच्छा है। मैंने कल ही उसे पेरुन (अरुण) से सीखा है।" उसने कागज के टुकड़े को अपने पति की ओर बढ़ाया और इच्छा न होते हुये भी पत्नी-भक्त रिनौल को उसे अपने हाथ में लेना पड़ा। हवा से वह टुकड़ा कुछ उलट गया और रिनौल उस हिन्दुस्तानी 'एल' को तो न देख सका, पर दूसरी ओर जो तस्वीर थी,

उसे देखकर वह एकाएक कुछ चौंक उठा। एक छोटा-सा चित्र था, पर रिनौल ने उसे ध्यान से देखा। वह अपनी स्त्री से बोला—"यह हिन्दुस्तानी तो नहीं है। मैंने इसे कहीं न कहीं अवश्य देखा है। क्या तुम बता सकती हो कि हम इसे जानते हैं।"

"मैं भी इस चेहरे से अवश्य परिचित हूँ। या तो कहीं इस मनुष्य को या उस चित्र को देखा अवश्य है। पर इस समय याद नहीं आता।"

बहुत देर तक उन दोनों ने उस पर विचार किया, पर किसी के भी मस्तिष्क में उस मनुष्य का नाम नहीं आता था।

आखिर मिसेज रिनौल ने कहा—"तो उस हिन्दुस्तानी छोकरे को बुला कर ही इस विषय में पूछ न लें?"

रिनौल ने कुछ देर बाक्ष के पेड़ के उस पार आकाश की ओर, फिर उस टुकड़े की ओर देख कर और अंत में कुछ सोच कर अपनी स्त्री की ओर देख कर कहा—"मान लिया यह चित्र उस एलबम से है, तो इस विषय में उसके सम्मुख अपने को यों उत्सुक दिखलाना तुम ठीक समझती हो?"

"इसमें कोई हर्ज तो नहीं है," पर कुछ सोच कर मिसेज रिनौल ने कहा—"किसी दूसरे ढंग से उससे पूछ लें।"

अरुण कुमार को बुला कर मिसेज रिनौल ने कहा—"तुम ठीक कहते हो, हिन्दुस्तान के सभी निवासी काले नहीं होते। कुछ योरोपियनों की भाँति गोरे भी होते हैं। यह देखो, इस टुकड़े में जो तस्वीर है, वह तो ऐसे हिन्दुस्तानी की है जो कि बिल्कुल योरोपियन जान पड़ता है।" उसने धीरे से कागज का वह टुकड़ा अरुण की ओर बढ़ाया।

उसे देख कर अरुण ने कहा—"नहीं, यह तो एक अंग्रेज डाक्टर की है जो बम्बई में जाकर बस गया है। इसका नाम एस. के. क्लैटन है।"

"अरे हमने तो इसे हिन्दुस्तानी समझा था"—मिसेज रिनौल ने कहा और पति की ओर देखा कि उनकी चतुरता-पूर्ण बात से रिनौल कितना प्रसन्न है, पर रिनौल की आँखें बाम्ब के पेड़ के उस ओर ओकिन हिल से भी उस पार न जाने, किस अदृश्य वस्तु को देखने का प्रयत्न कर रही थीं। पर मिसेज रिनौल उसके उठे हुये माथे पर पड़े एक बल को देख कर तुरन्त समझ गई कि वह अपनी धुँधली स्मृत में पड़ी घटनाओं के कूड़ा-कर्कट में दबी एक बड़ी प्राचीन मूर्ति को फिर स्वच्छ करके इस चित्र से मिलने का प्रयत्न कर रहा है। शायद उसे यह भी ज्ञात नहीं कि कोई मूर्ति वहाँ वास्तव में है या नहीं।

"अच्छा"—उसने अरुण की ओर देख कर कहा—"यह सब इसी के विषय में लिखा है?"

अरुण ने कहा—"हाँ, बम्बई में इस डाक्टर की बड़ी ख्याति है; चीर-फाड़ के काम में यह बहुत ही निपुण है। अभी बम्बई के गवर्नर के पाँव का आपरेशन इसी ने किया है। इसी सम्बन्ध में यह चित्र इस पत्र में छपा है।"

रिनौल उसी प्रकार सोच रहा था, पर एक कान से उसने ये सभी बातें सुन लीं—'एस० के० कैप्टन नाम कभी नहीं सुना। पर देखा अवश्य है।' वह मन ही मन फिर सोचने लगा।

मिसेज रिनौल ने अरुण से कहा—"यह तुम्हारी बड़ी बुरी आदत है कि तुम रद्दी कागजों को बिल्कुल यों ही छोड़ देते हो। यह बिल्कुल जंगली आदत है जिसे तुम्हें अब छोड़ना होगा।" वह कभी-कभी इस बीच अपने पति के चेहरे की ओर देख कर उसके विचारों को समझने का प्रयत्न कर लेती थी। एकाएक रिनौल के चेहरे पर एक अनोखा प्रकाश-सा आ गया; माथे पर पड़ा बल समतल हो गया और आँखें एक प्रकार से चमकने भी

लगी। मिसेज रिनौल ने कहा—"एरुन (अरुण) अब तुम जा सकते हो।"

अपनी पत्नी का हाथ पकड़ रिनौल उसे बटरफ्लाई वाली अगारी तक ले गया और धीरे से बोला—"क्या यह चित्र उस एलबम में रखे मिसेज कैवेल के साथ कर्नल कैवेल से नहीं मिलता है ?"

"हाँ-हाँ, जरूर मिलता है, बिल्कुल ठीक।" मिसेज रिनौल ने कहा।

❁ ❁ ❁

उस दिन अपने एकान्त कमरे में, जो उस मकान की चौथी मंजिल पर था और जिसमें अरुण तो अलग रहा, मास्टर और मिसेज रिनौल को भी झाँकने की आज्ञा न थी, आकर रिनौल ने तीसरे एलबम की छान-बीन शुरू की। रिनौल लन्दन के जासूसी-विभाग में एक उच्च पद पर था। यह बात उसे, उसकी पत्नी व महाराजा के न्याय-मन्त्री जिसने उसे उस पद पर नियुक्त किया था, इन्हीं तीनों को विदित थी। जोनेथन के नाम से पाठक परिचित ही होंगे। यह वही जासूस था जिसने प्रधान मन्त्री के पुत्र के हत्यारे का पता लगाया था। वेस्ट एंड के एक जौहरी की दूकान से चोरी गये सात हीरों का पता बिना किसी अन्य व्यक्ति की सहायता के लगाया था। संसार में जोनेथन को लोग जानते थे, पर रिनौल को नहीं। और वास्तव में दोनों थे एक ही। बहुधा रिनौल अपने 'लण्डेक्सन' में स्वयं जोनेथन के साहसपूर्ण कार्यों की बड़ाई करता था।

उस दिन इंग्लैण्ड के बिजली घरों को उलटने के लिए जो षड्यंत्र रचा गया था, उसमें षड्यन्त्रकारियों की लीडर का पता लगा लेने में जोनेथन की अपूर्व दक्षता की लोग जब प्रशंसा कर

रहे थे, तो यद्यपि रिनौल दो दिन से क्लब न जा सका था, फिर भी सभी को यही भास हो रहा था कि यदि आज रिनौल यहाँ होता तो जोनेथन की चतुरता पर पूरे घंटे भर व्याख्यान देता और सब को शाम को उसकी विजय के उल्लास में शराब और लेमोनेड पीने को आमन्त्रित करता। यद्यपि फिर भी सब ने भर-पूर जोनेथन की प्रशंसा की, पर उस रात किसी को भी अपना पेग अच्छा नहीं लगा। रिनौल की अनुपस्थिति में जोनेथन की विजय का मजा किरकिर हो गया।

हाँ तो जब रिनौल ने अपनी तीसरे एलब मकी तस्वीरें खोलीं तो वह कागज के तिकोने टुकड़े में छपी तस्वीर डाक्टर केवेल के ससुर से बिल्कुल मिलती-जुलती जान पड़ी। आइने के पीछे जाकर उसने उस बड़े दराज को खींच कर दोनों तस्वीरों को साथ साथ मेज पर रखा और प्रोजेक्टिंग लैण्टर्न का स्विच दबा दिया। दोनों तस्वीरें सामने की दीवार पर प्रतिबिम्बित हो गईं। उनमें बहुत अन्तर निकला।

आँखों में तो बिल्कुल असमनता थी। वह लाल-लाल नस जो बूढ़े केवेल की आँखों के कोनों पर थी, उस नई तस्वीर में अदृश्य थी। चेहरे की बनावट में भी परिवर्त्तन ज्ञात हुआ। एक तस्वीर में ओठ जरा उठा हुआ था। इसी से ज्ञात हुआ कि शायद दाँतों में भी समानता न हो। रिनौल को बड़ा क्रोध आया। बड़ी आशाएँ बाँधे वह कमरे में प्रविष्ट हुआ था; बड़ी प्रसन्नता से उसने प्रोजेक्टिंग लैण्टर्न को फोकस किया था। अंत में उसे कुछ भी न मिला। दराज में चीजों को यथास्थान रख कर कुरसी से उठते हुए एक घुटने की ठोकर देकर उसने मानो चिढ़ से उसे बन्द कर दिया। भड़ाक से कमरे का दरवाजा बन्द कर, वह नीचे के कमरे में आ गया और बिना चाय पिये टहलने चल

दिया। मिसेज रिनौल ने उसे देखा, पर रोका नहीं। वह जानती थी कि वह जब कभी क्रुद्ध होकर चल देता है, तो अवश्य किसी न किसी गम्भीर बात का आविष्कार कर लाता है और इस प्रकार के अकारण असन्तोष के पश्चात् जब वह अपनी निर्दिष्ट अभिलाषा पर पहुँच जाता है, तो फिर परिवार में कई रोज तक शान्ति रहती है। बसन्त के बादलों का बवण्डर-सा वह क्रुद्ध हो जाता था, जिसके पश्चात् सुन्दर और कोमल धूप का वातावरण होता है और आकाश स्वच्छ हो जाता है।

रिनौल अपनी छड़ी घुमाता हुआ धीरे धीरे लैण्डरा डाउन के पूर्व की ओर पैदल सड़क पर चल दिया। उसका धीमे-धीमे चलना, बार-बार छड़ी घुमाना, कभी-कभी चेहरे पर हाथ का रगड़ना और आँखों को अँगुलियों से कचोटना, कोई देखता तो अवश्य ही उसे पागल बतलाता।

उसे अपने ही ऊपर क्रोध आ रहा था। तीन वर्ष से अधिक हो चुका था, जब अक्टूबर में उसे डाक्टर कैवेल के हत्यारे का पता लगाने को कहा गया था। बार-बार प्रयत्न करने पर भी वह कुछ न कर सका। डाक्टर कैवेल अपनी पत्नी के साथ तेरहवीं अक्टूबर को हवाई जहाज से अमेरिका जाने वाले थे। बारह की शाम को किसी अज्ञात मनुष्य ने उसे अपनी मोटर से किसी रोगी को देखने के लिए बुलाया। मार्ग में उस आदमी ने उसे मार डाला। और कुछ दूर आगे चल कर चित्त की एकाग्रता के अभाव से स्वयं भी मोटर के टक्कर खा जाने से मर गया। डाक्टर कैवेल की पत्नी ने दूसरे दिन उसके न लौटने पर पुलिस को सूचना दी और स्वयं हवाई जहाज से अमेरिका चल दी। मार्ग में वह हवाई-जहाज जल कर गिर गया और कोई भी न बच सका। कैवेल परिवार का इस प्रकार अन्त हुआ, इसमें किसी

भी प्रकार की आपत्ति किसी को न थी। स्वयं डाक्टर कैनेल का हत्यारा मोटर दुर्घटना में मरा था। इसीलिए उसके ढूँढने का प्रयत्न करना निरर्थक था। पर पुलिस को इस पर विश्वास न था। स्वयं रिनौल का यह विश्वास था कि डाक्टर कैनेल को मारने वाला कोई और था। वह आदमी जो मोटर दुर्घटना से मरा, डाक्टर कैनेल के शव को छिपाने के लिए स्काटलैण्ड यार्ड की ओर जा रहा था और मोटर के तेज भगाने में ही उस दुर्घटना से उसका अन्त हुआ।

कितनी ही बार रिनौल अपने विचारों में हो इस हत्या का चित्र खींच चुका था। कितनी ही बार उसने अपनी तन्द्रा से, कैनेल की हत्या का दृश्य, शव का मोटर में रखना, कातिल का एक हजार पौंड उस मोटर वाले को यह कह कर देना कि इस लाश को यार्ड के उस पार छोड़ कर चले आना, उसने देखा था। फिर भी वह स्पष्ट रूप से उस हत्यारे का चित्र न खींच सका। दुर्भाग्यवश कैनेल की पत्नी का देहान्त हो चुका था, नहीं तो उसे बहुत अधिक सहायता उससे मिल जाती।

अपनी छड़ी घुमाते हुये जब वह धीरे-धीरे नाइटन के पास पहुँचा, तो एकाएक फ्लैट का एक दरवाजा खुला और एक षोडषी तितली की भाँति चमचमाती हुई निकली। रिनौल के भद्द चेहरे की ओर देख कर वह मुस्कराई और आगे बढ़ कर सामने के मकान के फ्लैट का एक दरवाजा खोल कर उसके अन्दर चली गई। रिनौल ने उसे देखा अवश्य पर उसका ध्यान उसकी ठुड्डी और निचले ओंठ की बनावट पर ही था। यही तो समानता उन दो निग्रो में थी। उसने अपनी ठुड्डी और निचले ओंठ पर भी हाथ फेरा। उसकी भी तो ठुड्डी उसी की जैसी है। यह कोई समानता नहीं थी, उसने सोचा फिर उसने अपने पीछे की ओर

देखा कि और भी कोई व्यक्ति समीप हो, तो उसकी दुड्डी भी देख लूं। वहाँ कोई और न था, पर सामने उसी मकान के नीचे बाईं ओर के बिना बरामदे वाले दरवाजे पर वह युवती खड़ी थी। रिनौल्ड को अपने एलबम के उस पृष्ठ के चित्रों की याद आई जिसमें कैवेल परिवार के चित्र थे। चार चित्रों में नीचे बायें कोने पर मिसेज डाक्टर कैवेल का सुन्दर चित्र था। उसके ओंठ, आँखें और गालों की बनावट! सहसा उसकी आँखें चमक उठीं। अरे, वह चित्र तो बिल्कुल मिसेज डाक्टर कैवेल से मिलता है। वह कैसा मूर्ख हो गया जो अब तक यह न समझ सका कि उसे कभी कालेज के दिनों में 'फूलों के साथ स्त्री' नामक चित्र एक चित्रकार ने दिखाया था। उसी चित्रकार ने बताया था कि उस चित्र में फूलों के साथ होने से उस स्त्री के चेहरे का दर्शकों की दृष्टि पर एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव पड़ता है। यही बात उसने अपने जासूसी अध्यापक से भी सीखी थी कि दो चित्रों की तुलना करते समय सामने और बाद आकर्षक वस्तु न रक्खे। यही बात थी कि उस कोने वाले डाक्टर कैवल की पत्नी के सुन्दर चित्र का उसके मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ा और वह गलती कर गया, ठीक ठीक तुलना न कर सका। एक सैनिक की भाँति खट-खट-खट कदम सटाकर उसने एकदम लौट कर अपने घर का रास्ता लिया।

❁ ❁ ❁

उस रात क्लब से लौटने पर रिनौल्ड बड़ा प्रसन्न था। सब बच्चों को बुला कर उसने कमरे में बुझी हुई आग सुलगाई और स्वयं पियानो पर बैठ कर अपने प्रिय गीत गाये। मिसेज रिनौल्ड को यह समझने देर न लगी कि आज अवश्य कोई बड़ी समस्या का समाधान हो चुका है।

सबके साथ रात्रि के भोजन की समाप्ति के उपरान्त मिसेज रिनौल ने पूछा—"क्या आज मछली बनेगी ?"

'मछली बनना' रिनौल दम्पति की भाषा में विशेष अर्थ रखता था। 'मछली बनेगी'—'मछली पकड़ी गई' का इस साहित्य में प्राचीन रूप था, और इसका अर्थ था 'अपराधी का पकड़ा जाना।' रिनौल मछली बहुत कम खाता था। उसके छितरे हुये दाँतों में काँटे बहुत खटकते थे; लेकिन जब कभी वह किसी अपराधी को पकड़ ले आता, तो मछली अवश्य उसके भोजन में स्थान पाती थी। इस प्रणाली का प्रारम्भ भी एक मनोरंजक घटना से हुआ था। एक विख्यात किन्तु अज्ञात अन्तर्राष्ट्रीय चोर को जो बिना निर्यात-कर दिये ही अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की गुप्त योजना में बड़ा दक्ष था, पकड़ने का भार इस दम्पति पर एक बार पड़ा। उसे पहिचान लेने में ये दोनों सफल तो हो गये, किन्तु बिना अपना भेद खोले, उसे पुलिस के सम्मुख प्रस्तुत कर देना भी एक समस्या थी। इसके लिये एक सहभोज हुआ, उसमें रिनौल दम्पति के सभी मित्र सम्मिलित हुये और एक-दो पुलिस के बड़े अफसर भी। भोजन के समय रिनौल को दुर्भाग्य से एक ऐसी मछली मिल गई जिसमें काँटे बहुतसे थे और बार-बार मुँह में गड़ जाते थे। उसने उनको निकाल कर इस प्रकार प्लेट पर गिराना शुरू किया कि जो हल्की-सी आवाज गिरने से होती, वह तार की छोटी और बड़ी टिक-टिक जैसी थी, जिससे पुलिस अफसर असली अपराधी कौन है और कौन-सी कुरसी पर बैठा है पूरी तरह जान गया। उसी रात उसके घर की पुलिस ने छानबीन की और सारे सामान के साथ-साथ वह पकड़ा गया।

"मछली बनेगी तो नहीं, पर सोचता हूँ, अब उसके बनने में बहुत विलम्ब भी नहीं है।" रिनौल ने कहा।

"डाक्टर कम्डन नाम भी कुछ विचित्र है और वह चित्र मिरोज कैवेल से बिल्कुल मिलता है। लेकिन प्रिये, इसका पूरा भेद जानने के लिये किसी को हिन्दुस्तान भेजना पड़ेगा।"

उसी रात को यह निश्चय हुआ कि अपनी भांजी मिस रोज को हिन्दुस्तान भेजा जाय और वह उस डाक्टर की सहायक नर्स बनने का प्रयत्न करे।

और कुछ दिनों बाद यह योजना कार्य रूप में परिणत भी हो गई, क्योंकि अरुण के हिन्दुस्तानी अखबार में उस अस्पताल के लिये उधर एक नर्स की आवश्यकता का विज्ञापन छपा और इधर डाक्टर कैवेल के हत्यारे का पता लगाने वाले के लिये पुलिस-विभाग ने एक आकर्षक पुरस्कार घोषित कर दिया।

(२)

हिन्दुस्तान में—

सोते समय उसे डाक्टर की, दिल की सहृदयता की वह बात याद आ गई। उस मास्टर को डाक्टर ने फीस के पूरे सोलह रुपये वापस कर दिये। कई बार ऐसी घटनाएँ हो चुकीं, जब डाक्टर किसी रोगी के घर जाकर उसे देखता, फ़ीस लेता और कुछ दिनों बाद जब वह जानता कि वह रोगी को स्वस्थ करने में सफल नहीं हुआ, तो फीस के रुपये फौरन लौटा देता और साफ कह देता—"मैं यदि आपकी कुछ भी भलाई नहीं कर सका, तो इस रुपये को लेने का मुझे क्या अधिकार है? मेरी आत्मा नहीं मानती।"

आज भी यही हुआ था। उस समय तो मिस रोज ने इस पर कुछ भी ध्यान नहीं दिया। पर अब वह सोच रही थी; मैं

बैंक से प्रतिमास रिनौल के जमा किये धन से दस पौण्ड निका-लती हूँ। आज ही दस पौण्ड बदला कर लाई हूँ। क्या मैं उन दस पौण्ड के पाने का अधिकार रखती हूँ? मैं रिनौल का क्या काम कर रही हूँ? दिन भर डाक्टर के साथ अस्पताल में रोगियों की सेवा शुश्रूषा करती हूँ और इसके लिये मुझे डाक्टर एक सौ-बीस रुपया मासिक अलग देता है। रिनौल ने मुझे अपनी बच्ची की तरह पाला, पढ़ाया और ऐसी मेरी इच्छा भी मुझे हिन्दुस्थान में भेज ही नहीं दिया, किन्तु इस भले डाक्टर के यहाँ नौकरी भी दिला दी और मैं ऐसी कृतघ्न हूँ और ऐसा मिथ्या जीवन व्यतीत कर रही हूँ कि उसके वे दस पौंड मासिक बिना किसी सकोच के हड़प किये जा रही हूँ और कह भी नहीं सकती कि मुझसे वह काम नहीं हो सकता जो तुमने मुझे सौंपा था। बिदा होते समय ऐरोड्रोम के खुले मैदान में धीरे से रिनौल ने मुझसे कहा था—'तुम जानती हो, मैं तुम्हारे लिये क्या इतना व्यय कर रहा हूँ? तुम्हें वहाँ नौकरी दिलवा देने में इतना परिश्रम उठाने का क्या अभिप्राय था?'

अपराधी बालक की भाँति मैं उसकी ओर अपना अज्ञान प्रकट करने के लिए ताकती रही। मेरे कंधे पर हाथ रखकर वह धीरे से हँस दिया—'रोज़ तुम यह तो जानती हो, मैं जासूस विभाग में हूँ, और मैंने इस बात को सदा गुप्त रखने को तुमसे कहा था और अब भी यही कहता हूँ। बम्बई में, जहाँ तुम जा रही हो, डा० कैंबेल के हत्यारों का छद्म वेष में रहने का सन्देह है, और कैप्टन डाक्टर शायद उन्हीं में से एक है। इसी के यहाँ यह नर्स का स्थान खाली हुआ है, जिस पर तुमको अब जाकर काम करना है। तुम्हारे लिए मैंने ..बैंक में रुपया जमा करवा दिया है। वहाँ से तुम अपना दस पौंड मासिक लेती रहना।

अब तुम जासूसी विभाग की एक वैतनिक नौकर हो गई हो और तुम इस डाक्टर का पूरा-पूरा भेद अब मुझे लिखती रहना।' और तब से मैं बराबर चार वर्ष से उसी प्रकार निस्संकोच वह रुपया खर्च कर रही हूँ। रिनोल्ड को मैंने पहले-पहल तो डाक्टर के विषय में कई मास तक प्रति सप्ताह कुछ न कुछ नई बातें लिखीं। पर वह और अधिक जानने की इच्छा रख कर बार-बार लिखता है, तो भला इसमें मुझे उससे क्यों चिढ़ लगती है? क्यों मैं दो चार रूखे शब्द लिखकर टाल देती हूँ? मुझे भी उससे साफ कह देना चाहिये कि मैं अब जासूस विभाग का रुपया नहीं चाहती। मैं जो कुछ उसके विषय में जान पाई, लिख दिया। मुझे स्वयं विश्वास नहीं होता कि डाक्टर कैवेल के उन खूँख्वार हत्यारों में से वह भी एक होगा। इन चार वर्षों से मैं देख रही हूँ, वह कितना शान्त, दयालु और कितना निष्क्रोधी है। नहीं, मुझे स्वप्न में भी विश्वास नहीं कि वह हत्यारा हो सकता है। फिर भी रिनोल्ड न जाने क्यों उसके पीछे पड़ा है। क्यों बार-बार मुझसे पूछता है कि कोई नई विशेष बात, जो तुम डाक्टर मैण्टन के बाबत जान सको वह लिखो। उसके सभी मेल-मिलाप मिलने वालों के नाम और चित्र भेजो। उसके कमरे में लगे चित्रों के फोटो खींच कर भेज दो। हाँ, वह तो पूरा झक्की है। उसे जब कोई धुन सवार हो जाती है, फिर कभी छूटती नहीं। यही सब सोचते सोचते मिस रोज को नींद आ गई।

फिर कई दिनों तक उसे उस रुपये का ध्यान ही नहीं रहा। वह रिनोल्ड को लिखना ही भूल गई। डाक्टर मैण्टन पर उसे एक प्रकार की श्रद्धा-सी होने लगी। उसकी दत्त-चित्तता पर वह मुग्ध-सी रहती और कोई न कोई अवसर उससे एकान्त में मिलकर बातें करने का ढूँढ़ती रहती। इसी प्रकार कई दिन व्यतीत हो गये।

एक दिन रोगी की परीक्षा करके डाक्टर कुछ दवाइयाँ लिखने के लिये अपनी मेज पर बैठा था और शायद इसी विचार में था कि सबसे उपयुक्त औषध कौन-सी होगी। एक हाथ की कुहनी मेज पर थी और दूसरा हाथ कलम से खेल रहा था। छत में लगे बिजली के पंखे से उसके सिर के सुनहरे बाल कभी इधर और कभी उधर बिखर रहे थे। रोज ने सोचा, अपनी बात का यही एक अच्छा उपयुक्त समय है। डाक्टर आज अधिक प्रफुल्लित और प्रसन्न जान पड़ते हैं। कितने ही दिनों से वह अपनी बात की भूमिका जमा देना चाहती थी, कितनी ही बार उसने इसका प्रयत्न किया था, पर डाक्टर सदा व्यस्त रहता। उसे इधर-उधर की फालतू बातों के सुनने का समय ही न मिलता। इधर रोज की इच्छा दिनोंदिन प्रबल होती जाती। इस बात का तो उसे अवश्य कुछ-कुछ आभास-सा था कि डाक्टर उसे और दो नर्सों से अधिक तो चाहते ही हैं, क्योंकि वह उन दोनों से सुन्दरता में बढ़ कर है, काम भी अधिक चतुराई से करती है और तीसरी नर्स ने भी अपने विवाह के समय अस्पताल से विदा लेते हुये कहा था कि शायद डाक्टर तुम्हें अधिक चाहते हैं।

कुछ मुस्कराने की चेष्टा करते हुये आखिर रोज ने अंग्रेजी में कहा—"डाक्टर साहब, एक बात आप से पूछना चाहती थी?"

'हाँ, कहिये।" डाक्टर ने हाथ की कलम उठा कर उसके मुँह की ओर देखते हुये कहा।

"आप का जन्म-दिन कब होता है?" रोज बोली—"इस धृष्टता के लिये क्षमा चाहती हूँ।"—एका-एक डाक्टर की कुहनी मेज पर से उठ गई। कलम दूसरे हाथ पर स्थिर हो गई। उसका मुँह बच्चों की तरह एकदम लाल पड़ गया। प्रयत्न करने पर भी वह एक लम्बी-सी आह को न रोक सका। रोज यह सब

कुछ न रह सकी। वह अपने किये प्रश्न पर स्वयं पछताने-सी लगी। उत्तर की प्रतीक्षा में न रह कर वह एक नये आगन्तुक रोगी की सेवा-शुश्रूषा करने चली गई। डाक्टर ने उसके मुड़ते ही गम्भीरता धारण करने का प्रयत्न किया। रोज दूर न गई थी कि उसने पुकार कर कहा--"लो यह नुसखा, बी वार्ड में जो नया रोगी है, उसके लिये है।" डाक्टर ने ये शब्द कहे तो पर उसकी आँखें इस बीच रोज के मस्तक पर थीं। उसे रोज से आँख मिलाकर बात करने का साहस भी न हुआ। रोज कागज का वह टुकड़ा लेकर अब जाने लगी, तो डाक्टर ने मन ही मन सोचा, उसने पूछा आपका जन्म दिवस कब होता है और मैंने कुछ भी उत्तर नहीं दिया। असभ्यता की हद हो गई! वह अपने मन में क्या सोचेगी। साहस बटोर कर उसने कहा—"मिस रोज, तुम मुझसे क्या प्रश्न कर रही थी? मेरा ध्यान किसी अन्य ओर था। क्षमा करना, उत्तर न दे सका।" उसकी आँखें अब भी सामने न थीं और रूमाल की नोक उसकी अँगुलियों पर पूरी बट चुकी थी।

कुछ सकुचाते हुये रोज ने कहा—"डाक्टर साहब, मैं यही पूछ रही थी कि आपका जन्म-दिवस कौन-सा है। आप सदा अपने काम में मशगूल रहते हैं और सारा वर्ष समाप्त हो जाता है, हमें कभी ज्ञात ही नहीं होता कि आपका..."

कुछ अन्यमनस्कता से बीच ही में बात काटते हुये उसने कहा—"मुझे ठीक याद तो नहीं, फरवरी में शायद कोई तारीख है,"—कुछ रुक कर उसने कहा "छठी फरवरी है।" बड़ी शान्ति से उसने यह सब कुछ कह डाला। पर उसकी मुद्रा और आँखों से रोज पर उसके हृदय में मचा हुआ तूफान प्रकट हो गया।

एकदम उठ कर वह अपने कमरे की ओर चल दिया ताकि

रोज को पता सम्बन्ध में उससे और पूछने का समय न मिले।

रोज भी यह सब कुछ समझ गई। अपनी बुद्धि के अनुसार उसने इस छोटी-सी बात का अर्थ निकाल लिया। उसे एक प्रकार की प्रसन्नता हुई कि उसका लक्ष्य ठीक हो गया। भूमिका का श्रीगणेश आशा से भी अधिक सफल हुआ। चार वर्ष से भी अधिक से वह इस अस्पताल में काम करती है। उसके परिश्रम और रोगियों के प्रति सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से डाक्टर राम सन्तुष्ट रहता है। कभी किसी छोटी-सी बात के लिये भी डाक्टर ने उसे नहीं टोका। कभी क्रोधित हो कर या झिड़क कर डाक्टर उससे नहीं बोला। जब कभी किसी रोगी को देख कर रात में डाक्टर शहर से देर में लौटता, तो वह बड़ी अधीरता से उसकी प्रतीक्षा में बैठी रहती। डाक्टर के आने में यदि अधिक देर हुई, तो कोई भी और नर्स वहाँ न रहतीं; पर कितनी ही देर हो जाय वह अवश्य वहीं रहती। थका माँदा, अँधियारे में जब डाक्टर लौटकर आता और अपने क्वार्टर की ओर बढ़ता, तो वह उत्सुकता से उसकी मुद्रा पर अंकित भावों को समझने का प्रयत्न करती और आगे बढ़ कर पूछती—"डाक्टर साहब, क्या अब मैं जाऊँ ?"

तन्द्रा से जाग्रत होता हुआ डाक्टर कहता—"मुझे बहुत देर हो गई। ओह, तुम अब तक बैठी हो! जाओ, अस्पताल में सब ठीक तो है ?"

"हाँ, सब ठीक है।" रोज कहती और तब तक डाक्टर अपने कमरे के अन्दर पहुँच जाता। बस, इतना ही अनिश्चित समय था, जो कभी-कभी रोज को उसके साथ वार्तालाप करने को मिलता। और इन्हीं आठ-दस शब्दों को सुनने के लिये वह अस्पताल की और नर्सों के चले जाने के उपरान्त भी, बरामदे में

धुँधले प्रकाश में अधीरता से इधर उधर चक्कर काटती रहती और उत्सुकता से उसके आने की बाट जोहती।

महीनों यही हाल रहा। इस बातचीत में किञ्चित् भी वृद्धि न हुई। यद्यपि ये शब्द जब कभी इस प्रकार का अवसर आता, डाक्टर के मुँह से अनायास ही निकल पड़ते और रोज को भी। ऐसा भास होने लगा, मानो डाक्टर उन्हें अब केवल एक शिष्टाचार की भावना से कह देता है, फिर भी उसके लिए उनमें वही आकर्षण था और उसके लिए एक एक शब्द का अब भी वही मूल्य था। कभी-कभी रोज को उनमें अब व्यावसायिकता और कभी डाक्टर के अपने बड़प्पन और स्वाभिमान का प्रदर्शन-सा भी झलकता हुआ प्रतीत होता, पर किसी सुदूर आशा से यही क्रम जारी रहा।

बहुत दिनों की आशा के बाद एक दिन सचमुच फिर डाक्टर बड़ी देर में लौटा। उसने कुछ निकट जा कर कमरे तक उसका पीछा करने का निश्चय किया। पूछा—"डाक्टर साहब, आज आप बहुत गम्भीर और विचारमग्न प्रतीत होते हैं? क्या रोगी की दशा आपत्तिजनक है? आप मिनिस्टर साहब को तो देख कर लौट रहे हैं न?" तीन प्रश्न थे और तीनों भिन्न विषयों के। उसको आशा थी कि कोई तो ठीक स्थान पर बैठेगा। उस अन्धकार में न तो उसने डाक्टर के चेहरे को साफ-साफ देखा और न यही जान पाया कि उसकी मुद्रा पर कौन सा भाव, गम्भीरता, उदासीनता अथवा प्रफुल्लता अंकित है। वह कुछ कहना चाहती थी। प्रतिदिन के रटे हुये से ये शब्द अब उसे कर्णकटु जान पड़ने लगे थे। इसलिए उसमें कुछ परिवर्तन लाने के लिए वह आज कुछ और डाक्टर के मुँह से कहलवाना चाहती थी। और यही बातें उसे उस समय सूझ पड़ीं।

"नहीं, मैं तो बिल्कुल ठीक हूँ।" डाक्टर ने कहा—"धन्यवाद।" और फिर वही रटे हुए से शब्द—"तुम अब तक क्यों बैठी हो ? जाओ, सब ठीक तो है।"

जन्म-दिवस की बात पूछने पर जब डाक्टर इस रोज घबड़ा सा गया, तो उसने समझ लिया कि मुझे अब डाक्टर के विषय में एक नई वस्तु का अनुभव हुआ कि डाक्टर मन ही मन ताड़ गया है कि रोज मुझे चाहती है और किसी न किसी प्रकार उल्टी सीधी बातें करके वही प्रेम की बातों पर पहुँचना चाहती है लेकिन स्वयं वह एक बड़ा शर्मीला प्रेमी है और सभी शर्मीले प्रेमियों की भाँति उसे आगे बढ़ने का साहस नहीं। जरा-सी जन्म-दिवस की बात पर उसके हृदय में तूफान मच गया। वह शायद समझ गया कि रोज जन्म-दिवस की तिथि पूछेगी। उस दिन उसके लिए विशेष प्रकार से मुबारकबादियाँ भेजेगी। एक आध बहुमूल्य वस्तुओं को उपहार में देगी और धीरे धीरे इस प्रकार घनिष्ठता बढ़ेगी और अन्त में इसका फल होगा, वही पाँच शब्दों का सन्देश—'मैं तुमको प्यार करता हूँ।' और इतनी-सी प्रारम्भिक बात पर ही वह डर-सा गया। उसका चेहरा लज्जा से लाल हो गया। रोज मन ही मन अपनी विजय पर हँसने लगी उसने अब ठान लिया कि ऐसे प्रेमी के लिए उत्तेजना देने का सारा भार अब मेरे ही ऊपर है। वह प्रेम-पीड़ा से चाहे मर जाय, लेकिन अपने तईं कुछ भी न करेगा। वह कभी भी अपने मुँह से प्रेम की एक बात न निकालेगा। सारा प्रोत्साहन अब मेरी ही ओर से होना चाहिये।

उधर डाक्टर कैण्टन की दशा और ही थी। मिस रोज ने उस प्रश्न से सचमुच ही उसके हृदय में विचारों का भयानक बवण्डर-सा आ गया। अब तक तो वह यही समझता था कि रोज

उससे प्रेम करना चाहती है और वह मन ही मन उसकी इस मूर्खता पर हँसता और सदा इस बात का प्रयत्न करता कि वह अपनी प्रेममयी चेष्टाओं में अधिक अग्रसर न हो सके, क्योंकि इससे उसकी वास्तविकता के प्रकट हो जाने का डर तो था ही, साथ ही जब अन्त में उस प्रेम का आकर्षण इतना बढ़ जायगा कि रोज अपने को सँभाल न सकेगी, तो वह जान पायेगी कि वह एक पुरुष से प्रेम नहीं कर रही थी, और इसका कितना घातक परिणाम होगा। इसीलिये जान-बूझ कर वह उससे बचता रहता। उस दिन रोज के मुँह से जब उसने जन्म-दिवस का प्रश्न सुना, तो उसके रोंगटे खड़े हो गये। सात वर्ष पूर्व की वह भयानक घटना, जिसके दुष्परिणाम से बचने के लिये वह छिपा-छिपा देश-देश में भटकता फिरा और अन्त में बम्बई में आकर बसा, उसके मस्तिष्क में फिर वर्षा से धुले आकाश की तरह स्वच्छ हो गई। हृदय में जलता हुआ वह अंगारा जिसके ऊपर इन सात वर्षों की हल्की-सी राख की पर्त पड़ गई थी, रोज के उस प्रश्न से वह धुन्ध उड़ कर साफ हो गई और उसका हृदय फिर जलने लगा। फरवरी का ही महीना था, उसी के जन्म-दिवस का दिवस था। जब छोटी-सी एक बात के लिये उन दोनों में लड़ाई हो गई थी, फिर ..ओह आगे सोचने से ही वह डर गई। कितना भयानक, कितना रौरवपूर्ण वह दृश्य था जब उसके इन्हीं हाथों ने उसका गला दबा दिया था। उसने तब सोचा भी न था कि इतने शीघ्र उसका अन्त हो जायगा। संसार में कोई भी व्यक्ति इस बात को नहीं जानता था कि डाक्टर केप्टन, उसी डाक्टर कैवेल की पत्नी है। पर इस जन्म-दिवस के प्रश्न से उसे रोज से भय-सा मालूम होने लगा कि शायद रोज भी कहीं तो उसका भेद जानने लग गई है।

दो दिन-रात उसे न भोजन की रुचि हुई और न नींद ही ठीक तरह से आई। "अब रोज यह जान जायगी कि डाक्टर केवेल की, अपने पति की हत्यारी, मैं ही हूँ और जब मेरे ये सैकड़ों रोगी और शत्रु, यह जानकर जान जायगा कि मैं पुरुष नहीं स्त्री हूँ, तो मैं संसार में कौन सा मुँह लेकर रहूँगी। पुलिस आयगी, मेरे हाथों में हथकड़ियाँ बाँधेगी; पैरों में बेड़ियाँ होंगी और मैं जहाज के डेक पर लन्दन ले जायी जाऊँगी। तब तक अभी सब कुछ भेद क्यों न खोल दूँ या क्यों न आत्म-हत्या कर लूँ। सात वर्षों से मैं पुरुष का भेष किये थी। कितने कठिन प्रयत्न और साहस से मैं पुरुष बनने में सफल हुई। कितने ही दुखियों का मैं अब इस भेष से रोज भला करती, कितने ही निराश रोगियों के प्राण बचा लेती हूँ। यदि मैं एक व्यक्ति के प्राण निकाल देने और उसकी हत्या करने की ईश्वर के समक्ष अपराधी हूँ तो क्या रोज इतने रोगियों के दुखों को दूर करने से वह पाप किञ्चित् भी कम न होगा? फिर उसे तो हृदय की बीमारी थी, बहुधा उसके हृदय की गति रुक जाती थी और शायद उस झगड़ा-झपटी में इसीसे उसकी मृत्यु हुई हो।" यही सोचते सोचते रात में उसे झपकी-सी आती; पर एकाएक पुलिस की लम्बी-लम्बी टोपी देख और पैरों की खटपट से चौंक कर वह जाग उठती।

बम्बई में वह डाक्टर ए० के० कैप्टन के नाम से इन कई वर्षों से मशहूर था। (कहानी समाप्त होने तक के लिए हम भी उसे पुरुष ही समझ लें)। वह कुछ वर्ष पूर्व कई देशों का भ्रमण करके हिन्दुस्तान में बस गया था। उसका अस्पताल चीर-फाड़ के काम में बड़ा प्रसिद्ध था। आन्तरिक अवयवों और पेट के अन्दरूनी फोड़ों के चीर-फाड़ में उसे हिन्दुस्तान में कोई न पाता था। पर वह कुछ अद्भुत प्रकृति का मनुष्य था। वह किस मत या धर्म का

अनुयायी है, यह किसी को भी ज्ञात न था। वह न किसी सभा या समाज में सम्मिलित होता और न किसी क्लब का ही मेम्बर होता। वह अविवाहित था। सुन्दर, सुडौल, बड़ी-बड़ी आकर्षक आँखों के सामने सुन्दर गोलाकार नाक थी। चौड़ा-सा मस्तक, सुन्दर नुकीली ठुड्डी थी। मूछ और दाढ़ी तो कभी उगने पाती ही न थी। उसका नौकर रामू, बतलाता था कि वह दिन में दो बार हजामत बनाता है। हल्के-से रंग का नीला-नीला, सुनहरी किनारी का चश्मा शायद सोते समय ही उसकी आँखों से उतरता था। किसी भी मनुष्य से वह आवश्यकता से अधिक बात न करता था।

लोगों की उसके विषय में अनेक धारणाएँ थीं। कोई कहता, वह अँग्रेजी थियोसोफिस्ट मत का मानने वाला है। कोई कहता वह कैथलिक है और अपने कमरे में रोज प्रातःकाल मूर्ति पूजा करता है। कोई उसे नास्तिक बतलाता और कोई बौद्ध।

गोशाला के लिये एक दान माँगने वाला एक दिन उसके पास भी पहुँच गया। और उसने अपनी रसीद बही की किताब उसके सामने रख दी। उसे कुछ उलट-पलट कर और थोड़ी बहुत अँग्रेजी, जो इधर उधर उस पर लिखी थी, पढ़ कर डाक्टर ने कहा--

"आजकल गोशाला में कितनी गायें हैं?"

"करीब दो सौ।" उसने कहा।

उसी समय दो सौ रुपये का एक चेक लिख कर उसने उसे दे दिया। दूसरे दिन उसे जानने वालों में खबर फैल गई कि डाक्टर हिन्दू है। वह रोज प्रातःकाल उठ कर गोबर से अपने कमरे को लीप पोत कर और गोमूत्र से नहा-धो कर रामकृष्ण परमहंस की विधिवत् पूजा करता है।

मिस रोज को भी यह बात बहुत अजीब-सी लगी। खैर,

बहुत दिन से उसने रिनौल के लिए कुछ नहीं लिखा था। वह सोच रही थी कि यह अच्छा विषय मिला, जिसे मैं अवश्य उसे लिखूँगी कि एक पत्र उसी दिन और रिनौल का आ गया, वह इस प्रकार था—

प्रिय रोज,

मैं दो बार पहले भी लिख चुका हूँ, पर तुम्हारा कोई पत्र नहीं आता। अपने ही अभिभावकों के प्रति तुम्हारा यह कार्य कहाँ तक क्षम्य है, यह तुम्हें स्वयं सोचना चाहिए। जो काम तुम्हारे सिपुर्द किया गया था, उससे तुमने हाथ खींच-सा लिया है। अपराध का दण्ड एक वैतनिक कर्मचारी के लिए क्या है, यह तुम स्वयं जानती हो। इस पत्र का उत्तर मैं वायुयान की डाक से पाने की आशा करूँगा। यदि मैं अब भी कोई पत्र न पाऊँगा, तो तुम्हें अपने 'सर्वोचित दंड' के लिए तैयार रहना चाहिए।

तुम्हारा सस्नेह,
ए० बी० आर०

रोज ने कुछ सत्य और कुछ झूठ का सम्मिश्रण करके निम्न आशय का पत्र लिखा—

कैप्टन चिकित्सालय, बम्बई।
७-१ 'X X

प्रिय मि० रिनौल,

पत्रों का उत्तर कई कारणों से न दे सकी। डाक्टर के साथ दिसम्बर में दार्जिलिंग की ओर जाना पड़ा और शीत के कारण पूरे महीने बीमार रही। अभी-अभी आरोग्य-लाभ हो रहा है। क्षमा कीजिए, मैंने आप को इस विषय में भी नहीं लिखा।

डा० कैप्टन भी कुछ बीमार रहे, लेकिन अब बिल्कुल स्वस्थ हैं। बहुत दिनों के परिश्रम के पश्चात् मैं जान पाई कि वह सनातन

(हिन्दू धर्म की प्राचीन शाखा) का मतावलम्बी है। उसके एकान्त कमरे में, जिसका मैंने सी० नौ में जिक्र किया था और जिसमें वह कभी किसी को नहीं घुसने देता, पता चला है, दो बड़ी सुन्दर श्वेत पाषाण की राम और कृष्ण की मूर्तियाँ हैं। वह रोज गोबर से उस कमरे को पोतता है और गोमूत्र छिड़क कर नहाता है। गाय की पूजा करता है। स्थानीय गोशाला को वह चन्दा देने लगा है। इस मास की रसीद दो सौ रुपये चन्दे की है। उसका नम्बर सु० ३-२७ है। मैंने बड़ी चतुरता से रसीद को ही अपने अधिकार में कर लिया है और साथ ही भेज रही हूँ। डाक्टर का ताजा फोटो भी साथ में है। मित्रों की सूची तैयार हो जाने पर भेजूँगी।

आपकी,

ए० एन० रोज।

पर धीरे-धीरे उसने बम्बई की सभी परोपकारी हिन्दू, मुस्लिम व अन्य संस्थाओं को मासिक सहायता देना प्रारम्भ कर दिया। और फिर लोगों की उसके विषय में वही एक अनिश्चित-सी राय रह गई कि वह न जाने किस मत या धर्म का अनुयायी है। उसके एकान्त कमरे का हाल किसी को भी ज्ञात न हुआ, उसमें जाने की आज्ञा किसी को न थी। स्वयं उसकी दासी और शर्मा उसके अन्दर कभी नहीं गये। और किसी को ज्ञात भी नहीं हुआ कि उसके अन्दर कौन-सी मूर्ति अथवा कौनसा भेद है। प्रातःकाल और सायंकाल अवश्य कुछ देर के लिए डाक्टर उस कमरे के अन्दर बड़ी गम्भीर मुद्रा लिए प्रविष्ट होता है और उससे भी अधिक गम्भीर मुद्रा लिए बाहर निकलता है, यही उनको भी विदित था। डाक्टर उनसे भी तो अधिक हिलमिल कर बातें न करता था।

(३)

कभी-कभी रोज और डाक्टर की भेंट हो जाती। ऑपरेशन

क्रम में एक दिन रोगी को बेहोश करते समय रोज ने जानबूझ कर डाक्टर के बहुत समीप पहुँचकर, धीरे से अपनी बाँह उसकी नग्न बाँहों से छुआ दी। रोज के शरीर में एक विद्युत-धारा के संचार का सा अनुभव हुआ, पर डाक्टर पर इसका कुछ भी प्रभाव नहीं हुआ। वह कुछ सँभलकर अपना काम करने लगा। लगभग आधे घंटे तक दोनों साथ ही कमरे में काम करते रहे। रोज कई बार अनायास या कार्यवश उसके समीप आ गई; कई बार उनके अंगों का किंचित् स्पर्श भी हुआ; पर डाक्टर को अपनी दत्तचित्तता में इस सब का कुछ भी अनुभव नहीं हुआ।

इस बीच एक दूसरी नर्स का स्थानीय क्रिश्चियन कालेज के एक अध्यापक से विवाह हुआ। उसने और दो नर्सों को आमंत्रित करना चाहा। डाक्टर से बातचीत करने का अवसर तो रोज किसी न किसी प्रकार निकालना ही चाहती थी। उसने उस नर्स से मिलकर डाक्टर को तीना नर्सों के साथ चाय-पानी की दावत में सम्मिलित होने को आमन्त्रित करवाया, क्योंकि किसी सार्वजनिक भोज में सम्मिलित होने में डाक्टर अपनी अस्वीकृति दे चुका था। और वह इस छोटी-सी चाय-पार्टी में भी सम्मिलित होना न चाहता था। पर तीनों ने बड़ा आग्रह किया और कहा कि हम इसका समय ठीक उसी समय रखते हैं जब आप अपनी रोज की चाय पीते हैं और यह आपका अधिक समय भी न लेगी। अधिक बहस करने का स्वभाव डाक्टर का था ही नहीं। बात करने से वह डरता-सा था। नाहीं, न कर सका। लेकिन मन ही मन वह सोच रहा था कि कोई ऐसी घटना हो जाय या बुलावा आ जाये कि वह इस झंझट से बच जाय।

ठीक समय पर उसे चाय के लिए बुलाया गया। सभी नर्सें अच्छा-अच्छा शृंगार किये उसी की प्रतीक्षा में बैठी थीं। रोज

भी हिन्दुस्तानी ढंग की हरी साड़ी और बैंगनी रंग का जम्पर पहिने थी। पर सौभाग्यवश जैसा उसने सोचा, वही हुआ। जैसे ही वह मेज पर बैठा, सुभाष रोड से उसे एक आदमी, रोगी को देखने के लिए बुलाने आ गया। रोज़ को कुछ भी बातचीत करने का अवसर न मिला। डाक्टर दो-तीन मिनट बाद तीनों नर्सों को धन्यवाद देकर चल दिया। पर इससे मिस रोज़ की आशा द्विगुणित हो गई। अब वह डाक्टर का उसके जन्म-दिवस के दिन अवश्य आमंत्रित करेगी, उसे उपस्थित होने पर विवश करेगी। पहले धीरे-धीरे बातें प्रारम्भ होंगी। रोज़ सोचने लगी कि अपना सारा हाल उसे सुनायेगी; कहेगी न मेरी माँ है न बाप। मेरा अभिभावक एक झक्की अधपगला जासूस है जिसे मेरे भविष्य का कभी स्वप्न में भी ध्यान नहीं आता। .. ..और इसी तरह की बातें होंगी। धीरे-धीरे वह अवसर आ जायगा, जब मैं अपना हृदय खोलकर उसके सामने रखूँगी।

ज्यों-ज्यों वह तिथि निकट आती जाती, रोज़ उतनी ही अधिक आकर्षक और सुन्दर बनने का यत्न करती; पर अपने को उससे भी अधिक असुन्दर प्रतीत होती और उधर डाक्टर की चाल-ढाल, उसकी बोल-चाल और रहन-सहन में उसे एक प्रकार का आकर्षण और अलौकिक शान्ति-सी दिखलाई देती। एक ओर वह थी असन्तोष और अशान्ति की कलकल करती हुई चंचल-सी क्षुद्र नदी और दूसरी ओर वह उसे शान्त, गम्भीर सागर-सा अथाह लगता था। वह छटपटाती थी कि कभी शान्ति और उस गम्भीरता में वह भी समा जाने का भाग्य रखती है क्या ?

(४)

अचानक उसका बाहर निकलना बन्द-सा हो गया। कई रोज़ से वह बाहर रोगियों को देखने नहीं जा रहा था। रोज़ के समीप

तो वह उसी दिन से जानबूझ कर न आता था और उधर रोज मन ही मन उसकी लज्जाशीलता पर मुग्ध थी। डाक्टर अस्पताल के नये रोगियों की जाँच करने आता, जब वह समझता कि रोज अपने काम में लगी होगी, और आवश्यकीय बातें नर्स और कम्पांउडरों को बतला कर चल देता। एक दिन जानबूझ कर वह एक नये नुसखे के लिए रोगी के तापमान का चार्ट ले कर चल दी। उसके पाँवों की आहट से डाक्टर ने जान लिया कि वह आ रही है और स्वयं उठ कर उसके हाथ से तापमान का चार्ट ले लिया। वह नहीं चाहता था कि नर्स को कुछ और इधर-उधर की बातें करने का अवकाश मिले। चार्ट को देखकर उसने फौरन नया नुसखा आरम्भ किया और कहने लगा—"उस दवा का प्रभाव कम हुआ। रोगी को पसीना नहीं आया। गरम पानी की थैली का सेक करते रहो।" बात समाप्त करते हुये उसने नुसखा रोज की ओर बढ़ाया। उसकी दृष्टि सामने औषधियों की एक खुली आलमारी पर थी। एकदम उठ कर वह उस आलमारी की ओर बढ़ा और अपने हाथों ही उसे बन्द करते हुये कुछ झल्ला कर अंग्रेजी में कहने लगा, "सैकडों बार कह दिया, फिर भी शर्मा औषधियाँ निकाल कर इसे बन्द नहीं करता।" आलमारी बन्द हो गई, पर उसे कुछ ऐसा भास हुआ कि रोज मेरे ही हाथों पर दृष्टि गड़ाये है और खड़ी है। इसीलिए उसने फिर आलमारी को खोल कर यह देखने का बहाना किया कि औषधियाँ विधिपूर्वक ठीक रक्खी गई है या नहीं। एक-दो शीशियों को नीचे ऊपर ठीक रक्खा, फिर बन्द करके चटकनी को ठीक बैठाया। उधर रोज से भी उसके मनोभाव छिपे न थे। एक ही क्षण वह जरा-इधर देखेगा, तो मैं उसकी मुद्रा से ही जान जाऊँगी कि सचमुच मेरा अनुमान ठीक है या नहीं। मन ही मन वह पुकार रही थी—

आप इधर क्यों नहीं देखते ? देखिए; एक, दो, तीन—देखिये ।'

सचमुच वह पलट गया और उनकी आँखें चार हो गईं। डाक्टर का चेहरा लज्जा से रक्तमय हो गया। रोज ने भी कदम बढ़ाया।

"इधर भी एक आलमारी खुली है।" डाक्टर ने अपने को सँभालते हुये कहा।

रोज स्वयं उसे बन्द करने को बढ़ी; पर डाक्टर ने कहा—"तुम्हारा रोगी भूखा होगा। जाओ अब देर न करो।"

विचारों की आँधी को बटोरते हुए वह लौट आई। सामने के दरवाजे पर पहुँच कर उसकी इच्छा हुई कि मुड़ कर एक बार और उसकी ओर देख ले, पर यही सोच कर कि अवश्य डाक्टर उसी की ओर देख रहा है, वह सीधी चल दी।

● ● ●

रोज की आशाएँ बढ़ती गईं। कोई दिन ऐसा न बीतता, जब वह 'अपने' डाक्टर को रिझाने के लिए कुछ न कुछ प्रयत्न न करती हो। अब उसका भोजन भी डाक्टर ही की भाँति सात्विक हो गया। धार्मिक संस्थाओं से उसे अरुचि होने लगी। रविवार को चर्च जाना अब उसे ढोंग सा लगने लगा, क्योंकि स्वयं डाक्टर कभी चर्च न जाता था।

डाक्टर अपने बगीचे में चक्कर लगा रहा था। शायद रात में उसे पूरी नींद नहीं आई थी, इसीलिए उसका मुँह कुछ फूला हुआ सा था। आँखें भी कुछ सूजी हुई थीं। रोज अपने को रोक न सकी। उसने डाक्टर को बिना ऐनक लगाए बहुत कम देखा था। आज उसकी बड़ी-बड़ी मनोहर आँखें जिन पर वह धुँधला ऐनक न था, उसे बड़ी ही आकर्षक लगीं।

समीप जाकर बड़े आदर से उसने डाक्टर को अभिवादन किया। मुस्करा कर डाक्टर ने उसका प्रत्युत्तर दिया।

"आपका जी तो अच्छा है ?" रोज़ ने कुछ स्वभाविक चिन्ता से कहा—"ज्ञात होता है कि आपको रात को काफी नींद नहीं आई।"

"धन्यवाद, मैं बिल्कुल ठीक हूँ।" डाक्टर ने यहीं पर बात-चीत का ढंग समाप्त करने की चेष्टा करते हुये कहा।

पर रोज़ कहती गई—"मुझे भी पहले कभी-कभी पेट में गड़बड़ी हो जाने से अनिद्रा का रोग-सा होने लगा था; पर डाक्टर साहब, जब से मैंने माँस का खाना बिल्कुल छोड़ दिया, मैं बिल्कुल स्वस्थ हूँ। बड़ी गहरी नींद आती है। कभी अजीर्ण नहीं होता।"

"तुमने माँस खाना छोड़ दिया—कब से ?" डाक्टर ने पूछा। रोज़ मन ही मन बड़ी प्रसन्न हुई। बहुत दिनों से वह डाक्टर को बता देना चाहती थी कि वह भी शाकाहारी बन गई है।

"हाँ, आज दो महीने से भी अधिक हो गया। उस दिन मिसेज़ रौस ने बड़ा प्रयत्न किया कि मैं उनकी दावत में थोड़ा-सा 'कोल्ड मटन' या 'आमलेट' खा लूँ; पर मैं उसे छू तक न सकी। मुझे अब उन चीजों से बिलकुल घृणा हो गई है। जोली ने 'पोटाटो चॉप' बतला कर मुझे एक दिन 'मटन चॉप' दे दी। मैं दो-एक तो धोखे में खा गई, पर डाक्टर साहब, मुझे तुरन्त कय हो गई। आमलेट की गन्ध से ही अब मेरा जी मचलाने लगता है।"

"क्या तुमने अण्डा खाना भी छोड़ दिया ?"

"जी हाँ, वह भी तो माँसाहारी भोजन में सम्मिलित है।"

डाक्टर मुस्करा दिया। रोज़ ने कहा—"डाक्टर साहब, आप कब से शाकाहारी हुए ?"

"मैं जन्म से ही शाकाहारी हूँ, लेकिन मैं तो अण्डा और मछली खाता हूँ।"

रोज़ मन ही मन सोचने लगी, तो मुझे भी अण्डा और

मछली खाना शुरू कर देना चाहिए। वह माँसाहार नहीं है।

डाक्टर को यह समझते देर न लगी कि रोज का अब प्रत्येक कार्य उसी की प्रसन्नता पर निर्भर रहता है। अब वह अधिक से अधिक उसके निकट रहना चाहती है। सहसा उसके सम्मुख विवाहित जीवन का एक चित्र खिंच गया। एडवर्ड और उसके विवाह के पूर्व के वे दिन उसे याद आ गये, जब एडवर्ड कितने ही बहाने बनाकर छुट्टी माँग लाता और उसके पास आ जाता। फिर एक दम वही भयानक छः फरवरी का दृश्य। वही घटना! उसका शरीर एकाएक काँप उठा और तुरन्त अपने कमरे के अन्दर जाकर उसने दरवाजा बन्द कर दिया।

(५)

डाक्टर का स्वास्थ्य बिगड़ता गया। उसका स्वभाव चिड़चिड़ा होने लगा और लगातार कई दिनों तक वह अस्पताल से गायब रहता। नर्सों पर ही सारे काम का भार रहने लगा। लेकिन मिस रोज ने भरसक प्रयत्न किया कि डाक्टर के मरीजों को किसी प्रकार की असुविधा न हो। वह नये रोगियों की लिस्ट बनाकर रखती। उनके संक्षिप्त विवरण लिखकर डाक्टर के पास भिजवा देती और यदि डाक्टर ने उन पर लिखकर कुछ राय दे दी, तो उनके अनुसार नुसखे बनवा देती, अन्यथा अपने मन से भी यथोचित औषधियों को चुनकर कम्पाउण्डरों को दे आती। डाक्टर के पुराने रोगियों के घरों पर भी एक चक्कर लगाकर, उनका संक्षिप्त-सा विवरण वह डाक्टर के सम्मुख प्रति संध्या को प्रस्तुत कर देती। उसे यह सब कुछ करने पर एक हर्ष होता। वह चाहती कि डाक्टर की सेवा करने का उसे अधिक से अधिक अवसर मिले। डाक्टर को कष्ट हो और वह विवश होकर उससे

सहायता की याचना करे और वह अपने उपकार को भूल कर कर्त्तव्य के नाते उसका उद्धार करे।

अपने काम की दौड़-धूप में, रोगियों को देखकर लौटते समय उसके पाँव धीरे-धीरे अपनी तीव्र गति को भूल जाते और विचारों की डोर ढीली पड़ जाती। वह सोचती और सोचते-सोचते स्वप्न देखने लगती—डाक्टर मरीज को देखने गये। रास्ते में जोर से पानी आ गया। पुल टूट गया। मोटर फिसल पड़ी। डाक्टर नाले में बहने लगे—बह गये, बहते गये। उसने देखा, दौड़कर डुबकी लगाई। वह भी बही। लोगों ने देखा, चारों ओर से भीड़ एकत्र हो गई। वह भी बह रही है, डाक्टर भी बह रहे हैं। धीरे-धीरे उसने पाँव तेज किए, बहते हुए डाक्टर का पाँव छू लिया, उसे पकड़ लिया और घसीट कर ले आई। डाक्टर बेहोश थे। उनको नहीं मालूम, किसने उन्हें उबारा। अस्पताल में लाकर रक्खा गया। वहाँ रोज ने सेवा की। होश आया, पर उस समय भी वह वहाँ से टल गई।

फिर कभी सोचते-सोचते चाल मन्द पड़ जाती। गर्दन नीची हो जाती और वह देखती डाक्टर बीमार हैं। बहुत बीमार हैं—हड्डी-हड्डी रह गये हैं। सब की राय है कि बिना दूसरे मानव शरीर से रक्त पहुँचाए उनका जीना दुर्लभ है। कौन अपना रक्त दे? सबको ज्ञात हुआ, एक अज्ञात व्यक्ति है, जो अपना रक्त दे सकता है। जितना भी आवश्यक हो, उतना दे सकता है। किसी को उसका नाम नहीं मालूम कि वह कौन है। एक दिन रक्त-संचार करने वाली नली में ताजा खून चमक रहा है। कमरे में नर्स मिस रोज के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं है। सब की आँखें नर्स के इस उपकार से क्षण भर के लिए आर्द्र हो जाती हैं। पर नर्स अपना काम यथाविधि करती रहती—उसे लोगों का ध्यान ही नहीं।

इस प्रकार सोचते-सोचते एक सन्ध्या को वह लौटी, तो देखा कि डाक्टर बरामदे में एक कुरसी पर बैठे हैं। सचमुच उनका शरीर बहुत ही दुर्बल हो गया है। अन्धकार में उगी हुई कोंपल की भाँति उनका क्षीण शरीर निस्तेज और श्वेत वर्ण हो गया है। पास पहुँचते ही रोज की आँखें भर आईं। हृदय में एक उद्गार आया और गला रुँध-सा गया।

"रोज, मैं तुम्हारे उपकार भूल नहीं सकता। मेरी अस्वस्थता में जिस तल्लीनता से तुम रोगियों की सेवा कर रही हो, उतना मैं भी कभी न कर सका।"

पर रोज कुछ भी न बोल सकी। डाक्टर के शब्दों की उस स्नेह मधुर तरंग ने उसके आँसुओं का बाँध तोड़ दिया और अब वह सुबक-सुबक कर रोने लगी।

कुछ देर तक डाक्टर भी चुप रहे। रोज का हाथ थाम कर उसने उसे पास की कुरसी पर बैठा दिया। उसके टपटप करते हुये आँसुओं को देख कर डाक्टर का स्त्री-जन-सुलभ स्नेह भी उमड़ आया। एक आन्तरिक प्रेरणा-सी उसे हुई और उसने कहना प्रारम्भ किया—"रोज, मैं अपने को धोखा दे रहा हूँ। कोई भी काम करने की इच्छा अब मुझे नहीं होती। अब तक मैं अपने को बरबस इस काम में लगाये रहा; लेकिन अब विचार होता है कि सब कुछ छोड़ कर किसी एकान्त स्थान में जाकर जीवन का अन्त कर दूँ। अब मुझे इस जीवन में कुछ भी शान्ति नहीं मिल सकती तुम्हारे सहज स्नेह को देखकर मुझे ...।"

"ओह, डाक्टर! आप क्या कहते हैं, ओह!" कहते हुये रोज ने अपनी कोमल हथेली डाक्टर के मुँह पर लगा दी और कहने लगी—"मेरा स्नेह, ईश्वर के लिए फिर ऐसा न कहिये। मेरा ऐसा सौभाग्य कहाँ जो आपकी सेवा कर सकूँ। मुझ में कौन-से

ऐसे गुण हैं, जिनसे मैं इस योग्य बन सकूँ।" उसने आँख उठा कर डाक्टर की ओर देखा। वह भयभीत-सी, किन्तु गम्भीर मुद्रा धारण किए था। एकाएक बड़ी मृदुल और धीमी आवाज में रोज ने कहा—"डाक्टर साहब, जो कुछ आपने कहा, क्या वह सच हो सकता है? क्या सचमुच आप को कभी मेरे स्नेह का विचार आता है? क्या मैं सचमुच अपने को इतनी भाग्यशालिनी समझूँ कि आपकी स्नेह-भाजन बन सकूँगी।"

डाक्टर ने एक लम्बी साँस ली। सोचा, इस बेचारी को मेरे छद्मवेष के कारण इतना दुःख हो रहा है। अपने पापों के ढेर में एक असह्य पाप का संचय मैं यह भी कर रहा हूँ कि इस अबोध बालिका का जीवन नष्ट कर रहा हूँ। अब तक मैं इसे टालता ही रहा अब इसे अवश्य बतलाना होगा। रोज उस उन्छ्वास और क्षणिक निस्तब्धता का कुछ और ही अर्थ समझा और कहती गई—"क्यों डाक्टर साहब, आपकी इस अशान्ति का मैं ही तो कारण नहीं हूँ? मैं, मैं तो कभी, कई वर्ष पूर्व, अपना जीवन आपके चरणों में अर्पण कर चुकी हूँ। बस, केवल संकोचवश अब तक कुछ न कह सकी। यदि यह दिन न आता, तो शायद हम दोनों का जीवन इसी प्रकार नष्ट हो जाता।"

डाक्टर ने कुहनी टेक कर हथेली से आँखों को ढक-सा लिया, सोचने लगा—कैसी समस्या है! एक पाप को छिपाने के लिये मुझे कितने पापों का सचय करना पड़ रहा है। जीवन के इस मैल को धोकर ही मुझे स्वच्छ जीवन की प्रेरणा होगी। इस मैल को छिपाने के लिए मुझे और भी गन्दे कृत्यों का संग्रह करना पड़ रहा है। मेरे चारों ओर कैसा मिथ्या आवरण है जो मुझे दिनों-दिन जकड़ता आ रहा है। कृत्रिमता के इस अथाह सागर से, काश, मैं उड़कर कहीं दूर चली जाती और फिर नया जीवन

आरम्भ करती ! नया जीवन ? ओह, इसी आशा को लेकर तो मैंने यह कृत्रिम जीवन भी आरम्भ किया था !

टेलीफोन की घण्टी से उसका ध्यान भंग हुआ और उसने देखा, रोज एकटक उसकी ओर देख रही है। सहसा रोज ने उठ कर टेलीफोन का चोगा हाथ में लेना चाहा, पर डाक्टर ने कहा—"जाने भी दो रोज, आज मैं कहीं न जाऊँगा।" और उसे फिर पास में बैठाकर डाक्टर ने कहा—"मैंने तुमसे बहुत सी बातें छिपाई हैं। मैंने पाप किये हैं—बहुत से असह्य पाप, और मैं निश्चय कर चुका हूँ कि तुमको एक दिन अपने विषय में बताऊँगा और अब मुझे जान पड़ता है, वह समय अवश्य निकट आ गया है। मैं अब अधिक दिनों अपने पापों की इस असह्य प्रतिक्रियाग्नि में नहीं जी सकता। रोज, तुम जानती हो, मैं, मैं—" कहते-कहते वह रुक गया—"शर्मा को बुलाओ, शर्मा को—" उसने कहा और एकाएक उसकी गर्दन एक ओर लटक गई और उसे मूर्छा आ गई।

⊛ ⊛ ⊛

दो घण्टे बाद जब उसने आँखें खोलीं, तो देखा, रोज पास ही बैठी है। "मैं अब स्वस्थ हूँ तुम जाओ रोज !" उसने कहा—"क्या समय हो गया ?"

"दस बजा होगा।" रोज ने कहा।

"अच्छा, तुम अब जाओ। मैं अब स्वस्थ हूँ। हाँ, मुझे जो कुछ कहना है, वह अब कल ही कहूँगा।" उसके स्वर में कुछ ऐसी स्थूलता थी और वाणी में कुछ ऐसा आग्रह-सा कि रोज को उठना ही पड़ा। शर्मा के कान में कुछ कह कर वह अभिवादन कर के चल दी।

रोज जब घर आई, तो नौकरानी ने आज की हवाई

डाक से आया हुआ एक पत्र उसे दिया। रिनौल का पत्र था, लिखा था—

'तुमको यह जान कर हर्ष होगा कि उस हत्यारे की खोज के लिए जो पारितोषक घोषित हुआ था उसकी रकम दूनी हो गई। तुम्हारी अकर्मण्यता मुझे खलती है। बार-बार मुझे यही भास होता है कि तुम भरसक प्रयत्न नहीं कर रही हो। उसके विषय में जो कुछ अब तक लिखा वह सब बड़ा ही संदिग्ध है। उसका नीला चश्मा लगाना, लोगों से कम मिलना, शीघ्र ही घबड़ा जाना—ऐसी बातें हैं, जो मुझे हर समय खटकती रहती हैं। तुम अब उसके नहाने के कमरे में उन प्लेटों को, अवसर पाकर रखना, जिनके विषय में मैंने तुमको कभी लिखा था। उसका एक नग्न अथवा अर्द्धनग्न चित्र मुझे भिजवा दो, तो फिर कई बातों को मैं स्वयं हल कर लूँगा। तुमने जो कुछ अब तक किया, वह कम प्रशंसनीय नहीं है; लेकिन कुछ और प्रयत्न से शीघ्र सफलता मिल सकती है।'

पत्र देखते ही उसे अपने पुराने अभिभावक के प्रति बड़ी घृणा हुई। सोचने लगी, कितने बुरे विचार हैं। यह पत्र नीचता की सीमा है। इतने उदार हृदय व्यक्ति पर यह सन्देह! छि! पुलिस-विभाग के दक्ष समझे जाने वाले व्यक्ति भी कितने घृणित विचारों के होते हैं। संसार में उन्हें छल ही छल दीखता है। साधारण-सी बातें उन्हें सन्देहपूर्ण लगती हैं। मैं ऐसे कर्मचारियों की सेवा करने का प्रण कर आई थी, और ऐसे सज्जन डाक्टर के पीछे पड़ गई। इसे रिनौल हत्यारा समझता है!

शीघ्र ही उसने पत्र का उत्तर लिख डाला—

'जो कुछ तुमने लिखा, उसमें लेश मात्र भी सच नहीं है। डाक्टर जैसी आदतें यहाँ पर पच्चीसों आदमियों की हैं। मुझे

हँसी आती है कि उन पर तुम्हारा सन्देह न होकर इस भोले डाक्टर पर है। मैंने आज तक आपका नमक खाया और आपका प्रयत्न किया, लेकिन डाक्टर ? वह सब सोना ही सोना है; उसमें सब सुन्दर है। मैं जितना उसके निकट पहुँची, उतना ही निष्कपट और सरल मैंने उसे पाया। मुझे आशा थी कि शायद आपकी बातों में कुछ सार हो, किंतु अब तो मुझे पूर्ण विश्वास है कि आपका प्रयत्न व्यर्थ है। ऐसे सज्जन व्यक्ति के प्रति इस प्रकार विचार भी करना मैं स्वयं पाप समझने लगी हूँ।'

पत्र बन्द करके उसने उसे अपने बैग में रक्खा और फिर सोने चली गई। उसका चित्त बड़ा प्रसन्न था। ऐसा जान पड़ता था कि एक बड़ा-सा भार जिसके तले वह दबी जाती थी, आज हलका हो गया। चतुर विद्यार्थी का मन परीक्षा के उपरान्त सुन्दर परीक्षाफल की आशा से जिस प्रकार नाच उठता है, वही दशा उसकी थी।

प्रातःकाल उठते ही डाक्टर ने रोज को बुला भेजा और वह अधीरता से फूलों की क्यारियों के पास टहलता हुआ उसकी प्रतीक्षा करने लगा। उसकी आँखें फूली हुई थीं और मुँह तमतमाया हुआ था। रोज के कल के व्यवहार और अपने एकाएक बेहोश हो जाने पर, वह रात भर सोचता रहा। उसे नींद न आई।

रोज के आते ही सरल स्नेह से उसने उसका हाथ पकड़ा और अपने कमरे के अन्दर ले गया—उसी कमरे में जिसमें आज तक केवल उसके और कोई नहीं गया था। रोज ने देखा, साधारण-सा सामान उसमें है। एक ओर हलके से प्रकाश में दीवार पर प्रभु यीशु की अन्तिम यातना का चित्र लगा है और दूसरी ओर मेज पर शृङ्गार की वस्तुएँ, आइना, कंघा, ब्रश, तेल आदि हैं। जिस कमरे को रोज बड़ा रहस्यमय समझती थी, उसमें निर्मल स्वच्छता के अतिरिक्त और कुछ भी न था।

डाक्टर कहने लगा—"रोज, क्या तुम विश्वास करती हो कि अपने पापों को स्वीकार करके मनुष्य उनसे मुक्ति पा सकता है? आज तुम सुन लो कि मैंने अपने सब से निकट सम्बन्धी की हत्या की है। मैं" हाँ, तुम सुन लो, मैं पुरुष नहीं, मैं स्त्री हूँ। मैंने अपने पति डाक्टर कैवेल की हत्या की थी।"

रोज उठी। उसने अपना बैग उठाया और फिर बैठ गई। अब अपनी आवाज यथाशक्ति कर्कश करके उसने कहा—"मैं यह सब जानती हूँ। मैं तुम्हें गिरफ्तार करती हूँ। मुझे जानती हो, मैं 'पुलिस आफ इंग्लैंड' से सम्बन्धित हूँ।" और झपट कर उसने टेलीफोन का चोंगा हाथ में लेकर बम्बई के पुलिस कमिश्नर से तत्काल दो पुलिस इन्सपेक्टरों को भेजने का कहा।

पुरस्कार के धन के साथ-साथ मिस रोज को डाक्टर मिसेज कैवेल की सारी सम्पत्ति भी मिल गई, क्योंकि उसके वसीयतनामे में लिखा था—"मेरी सारी सम्पत्ति, मिस रोज को मिले, जो मुझे प्यार करती थी और जिसके प्रेम से मैं उऋण होने में असमर्थ रही।"

११

मसूरी की अधोरात्रि रात

खड़-खड़ करता हुआ रिक्शा मसूरी के माल रोड पर चल रहा था। पानी की झड़ी में पाँचों कुली भीगते-भीगते एक साहब को कुलडी की ओर लिये आ रहे थे। आज दोपहर में थोड़ी देर के लिए आकाश साफ हुआ था, किन्तु फिर लगातार पानी पड़ने लगा। कल रात, परसों और उससे पहले दिन भी बराबर पानी गिरता रहा। लगातार कई सप्ताह से यही हाल था। बादलों की एक घमासान लड़ाई जब समाप्त होती और यह आशा की जाती कि अब तो इनका सब पानी खाली हो गया, तभी दो-तीन काली-काली घटाएँ उधर देहरादून के उस पार शिवालिक की पहाड़ियों से और इधर हिमालय के शिखरों से आकर-ठीक मसूरी के ऊपर भिड जातीं और इनके बरस जाने पर फिर नई घटाएँ घिर आतीं।

वर्षा से धुले हुए कंकड़ सड़क पर तीखे दाँतों की तरह निकल आये थे; उन्हीं पर नंगे पाँव कुली 'खबरदारी, खबरदारी' चिल्लाते हुए चले आ रहे थे। साहब ने सीट से मुड़कर पीछे देखा, कुलियों की मन्द चाल पर कुढ़ते हुए बड़ी ही घृणा से उन्होंने कहा—'क्यों बे, चलते क्यों नहीं ?'

अब पाँचों कुलियों ने जोर से हाथ मार कर रिक्शा दौड़ा दिया। पहाड़ की उस सड़क से इन कुलियों के पाँव इस प्रकार परिचित हो गये थे कि एक-एक गड्ढे और नाली का इन्हें पूरा ज्ञान था। कहाँ पर रिक्शा उठाकर चलना होगा, कहाँ पहाड़ की चढ़ाई को देखकर एक साथ जोर से दौड़ना होगा, और कहाँ पर आगे चलनेवालों में से एक पीछे आकर चढ़ाव पर रिक्शे के बोझ को रोककर चलेगा; यह सब अब स्वयं हो जाता था। थकी हुई साँसों की घटती या बढ़ती हुई फुकारें, हलके या भारी पड़नेवाले दसों पाँवों के शब्द, अब एक यंत्र के कल-पुर्जों की भाँति इस रिक्शे को समतल करते हुये स्वयं चला लेते थे। कुलियों में किसी को कुछ बोलने की आवश्यकता न रह गई थी।

और बोलें भी तो कैसे? बोझके मारे कनपटियाँ सदा गरम रहती हैं, दाँत कसकर जबड़ों पर मिले रहते हैं कि कहीं कन्धे के बोझ के झटके से जीभ न कट जाये। मुँह और नाक भी मिलकर फेफड़ों में पूरी साँस नहीं भर सकते। दिन-रात के इस परिश्रम के बाद की कमाई का पाँच रुपया रोज तो रिक्शे के मालिक को ही किराये के देने पड़ते हैं।

और वैसे भी मसूरी का कुली बहुत कम बोलता है। उसकी साँस सदा फूली रहती है। उसकी हलकी उगी हुई दाढ़ी पर सदा पसीने की धार, वर्षा के पानी के साथ घुल कर टपकती रहती है। वर्षा काल के सर्वो झाई की भाँति उसका रूप प्रकृति से बहुत सामञ्जस्य रखता है। काली गोल किनारे की टोपी के किनारों पर हरी-हरी फुलगी उगी रहती है। फटे हुए कोट और कई पैबन्द लगी हुई जेबों की किनारियाँ फटकर लटकती रहती हैं और उनके तार पानी की एक-एक छोटी नाली का रूप धारण कर लेते हैं। वह लखनऊ के ताँगे वालों की भाँति न तो सुन्दर

उर्दू बोल सकता है, और न प्रयाग के इक्केवालों की भाँति सुन्दर प्राचीन अवधी ही। गोरखा, गढ़वाली कुमाऊँनी और अँगरेजी भाषाओं की मिश्रित उसकी अस्पष्ट भाषा कठिनाई से समझ में आती है। उसकी मोटी जिह्वा से 'हटिये बाबू साहब, मेम साहब जरा बायें, हुजूर बायें हो जायँ सरकार' आदि शब्द कभी नहीं सुनाई देते। 'खबरदारी, खबरदारी रिकशा' यही एक शब्द उसके मुँह से सदा निकलता रहता है।

रिक्शा अब अपनी पूरी तेजी से दौड़ रहा था। साहब अपने ही विचारों में निमग्न थे कि सहसा अपने सम्मुख उस नाच घर के फाटक को देखकर उन्होंने कहा—'रुको!'

एकाएक इतनी शीघ्रता से रिक्शा रुका कि आगे लगे तीनों कुलियों के पाँव कंकड़ों पर धड़ाम से गिरकर फिर हाथ भर उछल आये।

साहब ने उतर कर एक रुपया, छः आना घण्टे भर का किराया दिया और अपना बरसाती कोट कन्धे पर डाल, उस नृत्य-शाला के द्वार की ओर चल दिये।

आगे जुटे हुए कुली ने अपना पाँव सहलाकर आगे बढ़कर कहा—'बाखशिश हाजुर, बहौत तेज आग्या हौं।'

साहब ने आँख सिचकाकर उसकी ओर देखा, जैसे बरसाती मच्छड़ की कान पर पीं-पीं सुन ली हो।

दलबीर ने जो पीछे जुटा था, अपनी टेढ़ी अँगुली से दाढ़ी पर बहता हुआ पसीना पोंछकर फेंका और फिर हाथ बढ़ाकर साहब से कहा—'हाजुर सलाम, कुछ बाखशिश।'

साहब ने मानो धीमे स्वर से गुर्राकर कहा—'हुँ।' और तब तक फाटक पर खड़े नृत्यशाला के द्वारपाल ने उनका बड़ा कोट, टोपी और छाता सँभालकर खूँटी पर टाँग दिये और टिकट बेचने

वाली युवती ने मुस्कुराकर उनका स्वागत किया। पाँच रुपये, चार आने का टिकट लेकर मिस्टर माथुर, यही साहब का नाम था, अपनी कुरसी पर जा बैठे।

आज नृत्य का विशेष प्रोग्राम होने से टिकट मिलने की आशा न थी, इसलिये टेलीफोन से कहलवा कर उन्होंने अपनी कुरसी पहले ही से निश्चित करा ली थी। उनकी कुरसी के पास ही मेज के उस पार दो और कोच लगे थे। उनमें से एक पर पटने के एक ज्वायण्ट मजिस्ट्रेट साहब और उनकी पत्नी तथा दूसरे पर उनकी लड़की और दामाद, जो युक्त-प्रान्त में कहीं पुलिस के कप्तान थे, बैठे थे। मिस्टर माथुर ने तपाक से चारों से हाथ मिलाकर अपने देर से आने के लिये क्षमा चाही।

(२)

मिस्टर माथुर बहुधा सोचते कि ईश्वर ने उनको पैदा करने में अवश्य कुछ अन्याय किया। उनको यदि बीस वर्ष पहले जन्म दिया होता, तो वे संसार में नाम कमाकर जाते। वे अपनी कक्षा में सदा प्रथम रहे। एम० ए० तक यही क्रम रहा। किसी विषय में कभी कोई उनसे आगे न बढ़ सका। लिखने-पढ़ने में वे प्रथम, खेल-कूद में अव्वल और वक्तृता देने में सदा सर्वोच्च रहे। पर इस सबके बावजूद भी सिविल सर्विस की प्रतियोगिताओं में वे सदा पिछड़ जाते। चार वर्ष विश्वविद्यालय में रह कर कई विजयोपहार से विभूषित होकर इंगलैण्ड गये और दो बार आई० सी० एस० की परीक्षा में बैठे; पर दोनों बार न निकल सके। हिन्दुस्तान में आकर अर्थ-विभाग की परीक्षा में सातवाँ स्थान पा तो गया; लेकिन प्रथम पाँच परीक्षार्थियों के बाद जो और दो मुसलमान लिए गये, उनका नम्बर सत्रहवाँ और पैंतालीसवाँ था। बेचारे मिस्टर माथुर जातीय विभाजन को कोसते

Bul Regd. M. Maasanae

रहे। उसी वर्ष प्रान्तीय सिविल-सर्विस की परीक्षा में तो और भी निराश होना पड़ा। बड़ी कठिनता से बैठने का अवसर मिला। परीक्षा का फल निकला तो मौखिक वार्त्तालाप में उन्हें दो सौ में केवल पचानवे नम्बर मिले। फल यह हुआ कि सैंतीसवाँ क्रम आया और कुल पन्द्रह स्थान खाली थे। इसलिए जब कभी मिस्टर माथुर पुराने सिविलियनों के ब्रॉडकास्ट सुनते, अखबारों में उनके लेख पढ़ते अथवा कहीं उनका व्याख्यान या और दलील सुन पाते, तो सैकड़ों त्रुटियाँ निकाल मन ही मन कह उठते, अन्धों में काने सरदार हैं ये सब! तब की सफलता पर कूद रहे हैं, जब प्रतियोगिता ही न होती थी, जब जीवन-संग्राम इतना विकट ही न था, जब ज्ञान-कोष इतना अथाह हुआ ही न था। आज हमारे साथ परीक्षा में आकर बैठें तो देखें इनकी सफलता।

सब परीक्षाओं का मधुर और कटु फल प्राप्त कर लेने के उपरान्त जब मिस्टर माथुर ने अपने ससुर साहब के सम्मुख, जिन्होंने इन्हें विलायत भेजने का भार उठाया था, एक बड़ी बिजली के धोबी घाट खोलने की स्कीम प्रस्तुत की, तो इस योजना का आंशिक समर्थन करते हुये उन्होंने कहा—"है तो बड़ा अच्छा विचार! कानपुर में बिजली से चलनेवाली यदि एक ऐसी लॉंडरी हो जाय तो सफलता अवश्य होगी; पर अब मुझे भी कुछ कर लेने दो। डिपुटी कलैक्टरी की नामजदगी का भी तो अभी समय है।"

डिपुटी कलैक्टरी में तो उनका नाम दर्ज न हो सका; लेकिन अगले साल नायब तहसीलदारों में उनका नाम आ गया और पचहत्तर रुपये मासिक वेतन की एक जगह, तराई के एक छोटे से जिले में उनको मिल गई। जाने की इच्छा न हुई। बड़ी ग्लानि-सी अपने ही ऊपर आने लगी; पर पिताजी के आग्रह और ससुर जी की मिन्नतों के बाद चल ही दिये।

तहसीलदार साहब थोड़ी-सी अँगरेजी जानते थे। नये नायब साहब के आने से बड़े प्रसन्न हुए। पुत्र की भाँति मानने लगे। अच्छा-सा क्वार्टर दे दिया। उस वर्ष जो वार्षिक जीर्णोद्धार के लिए सरकारी रुपया तहसील के मकानों के लिए आया था, उसी से बचाकर पिछवाड़े अच्छी-सी चारफुटी दीवाल खड़ी करा दी। पानी का हाथ से खींचने का पम्प लगाया। एक हिन्दू चपरासी की ड्यूटी लगा दी कि नायब साहब का खाना बना दो। दूसरे मुसलमान उम्मीदवार को हुक्म हो गया कि रोज प्रातःकाल आकर आँगन और कमरों में झाड़ू लगा कर कुर्सियों की धूल साफ कर दे, जूतों पर पालिश कर दे और तब पूछ लिया करे कि बाजार से क्या-क्या चीजें आयेंगी।

छोटा-सा कस्बा था। सब-रजिस्ट्रार साहब सुयोग से पुराने सहपाठी निकल आए—एम० ए०, एल० एल० बी० थे। कई स्थानों पर असफल प्रयत्न करने के बाद इस प्रतियोगिता में सफल हुए थे। शहर कोतवाल पुराने एडवर्ड के सिक्के की भाँति स्थूल मुद्रा के, गंजी खोपड़ी के मुसलमान थे; दाढ़ी हलकी-सी नुकीली कटी थी। थे बड़े ही सज्जन। उन्होंने मिलते ही कसकर हाथ मिलाया। मुँह पान से भरा था। एक ओर थूक कर बोले—"अच्छी जगह पर आ गए। बड़ी जल्दी तरक्की पा जाओगे। चार-पाँच साल में ही समझो, डिपुटी हुए और तुम तो अच्छे तालीमयाफ्ता हो, डिप्टियों के भी कान काटोगे।"

नायब दारोगा भी कानपुर के बी० एस-सी०, ए० जी० थे; कृषि-विभाग में चार-पाँच स्थानों पर असफल प्रयत्न करने के बाद थानेदारी प्राप्त करने में भाग्यशाली हुए थे।

थोड़े ही दिनों में पुराना क्लब फिर जाग उठा और तहसील के पास ही पुरानी अमन सभा के मकान के पक्के अहाते में सफाई

हो गई। गेंदें आ गईं और टेनिस होने लगी और मिस्टर माथुर अपने वही पुराने विश्व-विद्यालय के समय के हाथ दिखलाने लगे।

डिपुटी साहब, हाकिम परगना जब तहसील का मुआइना करने आये, तो मुलाकात हुई। बड़े आदमी का दामाद समझकर फौरन आगे बढ़ कर हाथ भी मिला लिया; नहीं तो भला, डिपुटी साहबान जैसे बड़े अफसर नये प्रोबेशनर नायब तहसीलदारों से कहीं हाथ मिला सकते हैं! उनको भी तो अपने बड़े पद और मान-अपमान का ख्याल होता है! और शाम को क्वार्टर पर भी तशरीफ ले आये। चाय-पानी हुआ। क्लब में टेनिस भी देखने आये, यद्यपि इन नये लड़कों के सामने मैदान में आकर खेलने में उन्हें कुछ हिचकी सी-हुई।

दूसरे दिन ग्रामसुधार की एक सभा हुई। डिपुटी साहब, जिले की ग्रामसुधार समिति के प्रधान थे। इस सभा में नायब साहब से उन्होंने बोलने का आग्रह किया और मिस्टर माथुर ने, खड़े होते ही ग्रामसुधार के नाम की शुद्ध देहाती भाषा में परिभाषा से आरम्भ करके आर्यकाल के कुटम्बों, कुटम्ब समुदायों, जातियों आदि की सरल व्याख्या करते हुए ग्रामीण जनों को उनकी पुरानी संस्कृति की जो याद दिलाई, तो डिपुटी साहब की भी आँखें खुल गईं, बड़े खुश हुए और जाते समय मुआइने में नोट लिख गये कि नये नायब साहब बहुत होनहार हैं। और सदर दफ्तर में जाकर उन्होंने कलैक्टर साहब से भी माथुर साहब के विषय में कहने का वचन दिया। और गाड़ी पर सवार होते हुए पीठ थप-थपाते हुए कहा—'ससुरजी को पत्र लिखना तो मेरी भी जग-रामजी अवश्य लिख देना।'

इस प्रकार अपने छोटे से इस नये परिवार में मिस्टर माथुर,

प्रेम और प्रशंसा के उत्साह से फिर पहले ही की भाँति उज्ज्वल भविष्य का स्वप्न देखने लगे।

तहसीलदार साहब अपने पूरे पाँच वर्ष की अवधि उस तह-सील में अगले वर्ष समाप्त कर चुके और जब उनकी बदली हुई, तो डिपुटी साहब की बात कलैक्टर साहब ने मान ली और नये तहसीलदार साहब के आ जाने तक सारी तहसील का काम माथुर साहब के ऊपर छोड़ दिया गया।

नये तहसीलदार साहब तराई के इस जिले में आने से घबरा उठे और उन्होंने लम्बी छुट्टी ले ली। उधर मिस्टर माथुर को इससे अच्छा सुयोग कहाँ मिलता? उन्होंने ऐसा सुन्दर काम दिखाया कि वसूली में उनकी तहसील सारे जिले की और तह-सीलों में प्रथम आ गई। उन्हीं के उद्योग से उन्हीं की तहसील का एक गाँव कमिश्नरी भर में सर्वोत्तम आदर्श गाँव माना गया और एक शील्ड भी कमिश्नर साहब ने इस गाँव को प्रदान किया। युद्ध के उद्योग में भी उनका काम सर्वोपरि रहा। यद्यपि बड़े-बड़े रईस और ताल्लुकेदार उनकी तहसील में न थे, पर गाँव-गाँव जाकर उन्होंने प्रचार किया, अतः उनकी तहसील का चन्दा और तहसीलों से बढ़ कर रहा।

मुकदमों के फैसलों आदि में भी वे किसी से कम न थे। डिपुटी साहब अपनी अदालत से, तीसरे दर्जे के मजिस्ट्रेट के तय करने योग्य सब मुकदमें अब मिस्टर माथुर के पास भेजने लगे। बड़े-बड़े पुराने वकील भी आकर अपनी लम्बी-चौड़ी तर्कों के बाद मिस्टर माथुर की बुद्धि का लोहा मान जाते, और जो फैसला हो जाता, वह कलैक्टर साहब भी अपील में न बदल सकते थे। तहसील पर उनका शासन भी खूब था। उनकी दो भिन्न-भिन्न प्रकार की आकृतियाँ थीं; एक सुन्दर, कोमल, मधुर हास्य मिश्रित,

जिसे वे अदालत के कमरे को छोड़कर अन्य सभी स्थानों में, दरवाजों के अन्दर छतों से ढँके कमरों के वातावरण में धारण करते थे, और दूसरी आकृति थी कठोर, गम्भीर, अस्थिर रेखाओं से परिवेष्टित, जिसे वे केवल नौकरों, कुलियों से बोलने, मातहतों को हुक्म देने और अदालत के कमरे में धारण करते थे। और जब वे इस दूसरी मुद्रा को धारण करते, तो वे जो करते न्याय-संगत, किसी के साथ न पक्षपातपूर्ण कृपा और न बुराई, न किसी से कुछ अपने हेतु चाहते और न कानून की परिधि से बाहर कोई उनसे और आशा ही कर सकता। उचित के लिए उचित, अनुचित के लिए अनुचित, यही उस मुद्रा का कार्य बन जाता था। मसूरी की म्युनीसिपैलिटी से निश्चित एक रुपया, छः आने से अधिक तब भला, रिक्शे के कुली उनसे कहाँ पा सकते?

(३)

भोजन के लिए आज नाचघर के रेस्तराँ में मिस्टर माथुर ने इन जण्ट साहब को—ज्वाइण्ट साहब अपने सूबे में इसी नाम से पुकारे जाते थे—आमन्त्रित किया था। आमन्त्रित करना शायद अधिक शिष्टाचारपूर्ण योजना है। उन्होंने दो-तीन दिन तक बराबर इस नृत्य-शाला में इन लोगों के साथ नाच देखा था और इस नाच के सिलसिले में जब कभी ह्विस्की, चाय, कॉकटेल, लेमन स्क्वैश अथवा कोई और खाने अथवा पीने की आवश्यकता पड़ जाती, तो उसका बिल कप्तान साहब अथवा जण्ट साहब अपने नाम करवा लेते और मुश्किल से रात भर में दो-चार आइटम माथुर साहब के नाम पड़ते। इसीलिए आज मिस्टर माथुर ने पहले ही से तय कर लिया था कि सारा प्रबन्ध उन्हीं की ओर से होगा। उन्होंने नाचघर के खास बटलर को बुलाकर एक-दो अपनी विशेष 'डिशें' भी बनवा ली थीं।

भोजन का आरम्भ ह्विस्की से हुआ। महिलाओं के लिए पोर्ट मँगवाई गई। माथुर साहब की चिरायु का प्रस्ताव करते हुए पहला बड़ा पेग सब लोगों ने शुरू किया। इस समय नाच का पहला भाग आरम्भ हुआ। बाजे वाले जो उस विशाल कमरे के अन्त में एक ऊँचे मंच पर थे, आज सुन्दर गैबेडीन के डबल ब्रेस्ट के कोट, वैसे ही पतलूने और लम्बी फूलदार टाइयाँ पहिने अपनी-अपनी तंग जगहों पर बैठे थे। उस वृत्ताकार मंच के दोनों ओर दो दरवाजे थे, जिनमें से अब दाईं ओर से छः सुन्दर गौरांग युवतियाँ पारदर्शक रेशम की अँगरखियाँ पहिने और लम्बे से ऐसे ही पारदर्शक लहँगे पहिने नाचती हुई निकल आईं। श्वेत सागर की एक तरंग की भाँति एक के पश्चात् एक ने नत-मस्तक हो दर्शकों का अभिवादन किया और बाजोंकी मोहक स्वर लहरी के साथ फिर सिर उठाकर नाचना आरम्भ किया। दर्शक-गण मंत्र-मुग्ध से वाद्य यंत्रों के तारों की झंकार के साथ इस नारी-मण्डल के अवयवों की गति के सामंजस्य का एक मधुर दृश्य देखने लगे।

जण्ट साहब और कप्तान साहब एक-एक पेग समाप्त कर चुके, किन्तु माथुर साहब इस मधुर संगीत से निमग्न से रह गये। और जब उनके दोनों साथियों ने आखिरी घूंट पीकर खट से गिलास मेज पर रख-दे, तब कहीं उन्हें ज्ञान हुआ और फिर यह सोचकर कि कहीं ये लोग मुझे इस प्रकार इस नाच देखने में तन्मय देखकर फूहड़ न समझ लें, जल्दी से अपना गिलास खाली कर गये। ब्वॉय को बुलाकर दूसरे 'बड़े पेग' का हुक्म दिया।

नर्त्तकियाँ अपना नाच समाप्त करके वाद्य-यंत्रों की मधुर ताल की तरंगों के साथ-साथ पीछे पग हटाती हुई एक बार फिर एक श्वेत सागर-तरङ्ग की भाँति एक साथ नतमस्तक हुईं और मंच के बाईं

ओर के फाटक से पीछे को हटती हुई अदृश्य हो गईं। तालियों की एक हलकी ध्वनि के बीच ब्वॉय ने तीनों गिलासों में एक-एक पेग डालकर खट-खट करके उनको मेज पर रक्खा।

नर्तकियों के मुखों पर जो प्रकाश पड़ रहा था, वह अब बन्द हो गया था और सारे दर्शकों पर तेज़ विद्युत प्रकाश छा गया। बाजेवालोंने बॉल की एक नई तान छेड़ी और दर्शकों में से एक-एक दो-दो करके नर-नारियों के जोड़े उठकर नाचने लगे।

जण्ट साहब की पत्नी ने माथुर से कहा—'क्या आप मेरा साथ दीजियेगा ?'

माथुर साहब एकाएक कुछ न कह सके। नर्तकियों का वह अपूर्व नाच अब भी उनके विचारों में उलझा हुआ-सा था। कुछ सँभल कर उन्होंने कहा—'आपके साथ तो मैं पाँव न मिला सकूँगा। बहुत पहले कभी नाचा था, अब तक बहुत कुछ भूल-सा गया हूँ।'

और तभी एक गौरांग युवती ने आकर कप्तान साहब से नाचने का प्रस्ताव किया। उसका सुन्दर, बीस वर्ष के रहस्य पुष्प-सा चेहरा सुरा की मादकता से और भी लाल हो रहा था, और कप्तान साहब ने किचकिचा कर कुछ अस्पष्ट भाषा में अपनी पत्नी से क्षमा-याचना-सी की और बिना अपने सास-ससुर की ओर आँख उठाये ही मुस्कराकर उस युवती का साथ दिया। उसके धवल कन्धों पर एक हाथ रखकर और दूसरा हाथ उसकी कमर के चारों ओर फिराकर वे अन्य नाचनेवाली जोड़ियों का साथ देने लगे।

भोजन का आयोजन कुछ देर के लिए रुक गया और तभी जण्ट साहब ने अपना गिलास समाप्त करके माथुर की ओर देखा। वे उस समय कप्तान साहब और उनकी सह-नर्तकी की ओर देख रहे थे कि किस प्रकार पानी में तैरती हुई मछली की भाँति यह जोड़ी संगीत की मधुर तान के साथ नाचनेवालों की

भीड़ में से एक छोर से दूसरे छोर तक निकली जा रही है।

अब जण्ट साहब से आँखें चार होते ही माथुर साहब शरमा से गये और अपने भरे गिलास की ओर देख कर उन्होंने झटपट उसे उठा कर आधा कर दिया। जण्ट साहब ने तम्बाकू का डिब्बा निकाल कर पाईप सुलगाया और उठ कर अपने कन्धे के उस पार कप्तान साहब को देख कर कहा—'यह लड़की बड़ा अच्छा नाचती है। आह, मार्वलस !' और पाईप के एक-दो कश खींच कर धुएं की वृत्ताकार आकृतियों की ओर देख कर फिर कहा—'कप्तान साहब भी इस कला में दक्ष हैं। बड़ी अच्छी जोड़ी मिली है।' और तभी वे एकाएक उठ कर स्नानागार की ओर चल दिये।

उनकी लड़की को अपने पति पर की गई अन्तिम आलोचना शायद अच्छी न लगी और अपनी माँ की ओर कनखियों से देख कर उसने माथुर साहब से अँगरेजी में कहा—'आप भी मेरे साथ एक-आध चक्कर लगाने में कष्ट तो न मानेंगे ?'

इस प्रस्ताव के सुनते ही माथुर साहब को ऐसा भास हुआ, मानो एकाएक रात्रि के अन्धकार से निकल मध्याह्न हो आया हो।

जब तक जण्ट साहब स्नानागार से वापस लौटे, माथुर साहब और उनकी लड़की ने मधुर हास्य से नाचते हुये उनका दूर ही से स्वागत किया। और नाचते-नाचते कोने पर पहुँच कर फिर पानी में पड़े भँवर की गति से पूरे ३६० अंश की परिक्रमा एकाएक करते हुये वे कप्तान साहब और उनकी सह-नर्तकी के पास ही पहुँच गये। तभी जण्ट साहब की पत्नी ने मानो पति के मन का भाव ताड़ते हुये कहा—'शीला भी नाच अच्छा जानती है।'

पति ने इसका कुछ भी उत्तर न दिया और अपने अँगूठे पर पाईप को उलटा कर ठोकते हुये व्यंग्य से कहा—'एक बड़ा पेग।'

सोलहों बाजेवालों ने एक साथ अपने-अपने वाद्ययंत्रों के

तीव्रतम तार का प्रयोग करते हुये 'बॉल' की इति की, और मैनेजर ने सम्मुख आकर अगले प्रोग्राम की माइक्रोफोन पर घोषणा की।

जण्ट साहब ने उठ कर अपनी लड़की और दूसरी नर्त्तकी का स्वागत किया। कप्तान साहब ने उस गौरांग युवती का सबसे परिचय कराया। वह उनके पुराने प्रिंसपल साहब की लड़की थी। भोजन का आग्रह करने पर उसने तुरन्त ही निःसकोच शीला के पास कोच के किनारे पर अपना आसन जमाया और अँगरेजी में कहा—'आह, आज गर्मी बहुत तेज है। मसूरी भी इस साल गरम हो गई। कप्तान, मैं थोड़ा-सा साइडर (सेब की बीयर सी शराब) पियूँगी।'

ब्वाय को बुला कर कप्तान साहब ने एक-एक बड़े पैग का और आदेश दिया और दो बोतलें साइडर की मँगवाईं।

जण्ट साहब ने घड़ी की ओर देखते हुए अपने मोटे-मोटे ओंठो को जरा सा खोलते हुए अँगरेजी में कहा—'अब तो खाने के लिए भी कह देना चाहिए।' (अँगरेजी बोलते समय उनके ओठ अनायास ही कम खुलते थे और मोटे हो जाते थे।)

'हाँ-हाँ!' कहते हुए माथुर साहब ने 'ब्वाय' को भोजन लगाने का हुक्म दिया।

उधर एक गौरांग महिला ने आकर अपना नग्न नृत्य दिखलाना आरम्भ किया। उसकी पतली कटि पर आधी जाँघों तक एक काले रेशम का कच्छ बँधा हुआ था और उसके ऊपर झलकती हुई रेशम की एक अँगरखी, जिससे वक्षःस्थल तो ढँका हुआ था; लेकिन कन्धे और सारी पीठ नग्न, श्वेत पाषाण की स्निग्ध मूर्ति सी निर्दोष दिखलाई दे रही थी। माथुर साहब ने केवल आँख उठाकर उस ओर देखा और फिर अपने गिलास में भरे उस तरल पदार्थ की ओर उनका ध्यान चला गया।

ब्वाय ने आकर खाने के लग जाने की सूचना दी और अपने अपने गिलासों को लेकर सब लोग पास ही दालान में एक बड़ी मेज के इर्द-गिर्द बैठ गये। 'मटन सूप' की एक-एक प्लेट सब के सामने रख दी गई। उसके उपरान्त 'चिकन' और 'राईस', फिर चापूस और कई-कई 'खाने' लाकर परोसे गये और अन्त में 'पुडिंग्स और पनीर व फलों' पर भोजन की समाप्ति हुई। प्रिन्स-पल साहब की लड़की ने 'कॉफी' का प्रस्ताव किया और जब तक सब चीजों का बिल न आ गया, लोग कॉफी पीते रहे।

बिल इस प्रकार था—

		रु० आ० पा०
१	स्काच ह्विस्की—१० पेग बड़े	३५—०—०
२	पोर्ट—एक बोतल	१२—८—०
३	साइडर—दो बोतल रूसी	२०—०—०
४	पोटाटो चिप्स—२ प्लेट	१—०—०
५	सूप—६ प्लेट (स्पेशल)	४—८—०
६	डिनर—६	३०—०—०
७	फ्रूट क्रीम और पुडिंग्स—६ प्लेट	१५—०—०
८	कॉफी	३—०—०
		११८—०—०

और बिल के अन्त में लिखा था—ब्वाय को जो बख्शीश (टिप) दी जाये, वह मेज पर आकर दी जाय। वह युद्ध-कोष में दी जायगी।

माथुर साहब ने जेब से इम्पीरियल बैंक की चैक की किताब निकालकर ११८) का चैक लिखा और दो नोट एक एक रुपये के निकालकर 'ब्वाय' को दिये।

जण्ट साहब की पत्नी के प्रस्ताव कर सभी उठ पड़े और

सीढ़ियों से उतरते हुए जब टिकट बेचनेवाली ने कहा—'टिप्स प्लीज' तो एक पाँच रु० का नोट निकाल कर माथुर साहब ने उस गोलक में डाल दिया।

(४)

रात के ठीक दो बजे मसूरी की उस प्रमुख नृत्यशाला के द्वार की अन्तिम सीढ़ी को छोड़कर जब मिस्टर माथुर का पाँव कंकर की सड़क पर लगा, तो मुलायम कारपैट के स्थान पर कठोर भूमि का स्पर्श तो पाँव तले हुआ ही; किन्तु आँखो के सामने अर्द्ध नग्न-नर्त्तकियों के स्थान पर वैसे ही अर्द्ध नग्न पहाड़ी रिक्शा के कुलियो की जिस बड़ी सख्या का पाया, वह भी कम कठोर दृश्य न था।

'रिक्शा चाहिए हुजूर ?'

'रिगल रिक्शा ?'

'फारवर्ड जायगा साहब !'

'सलाम, ले आऊँ हुजूर ?' कहता हुआ एक झुण्ड उन पर टूट पड़ा। बिजली के लैम्प की रोशनी में पहाड़ के किनारे-किनारे जहाँ तक दृष्टि जाती थी, मिस्टर माथुर ने देखा, रात्रि के अन्धकार में रिक्शों की पंक्तियाँ जुगाली करनेवाले जानवरों की भाँति खड़ी हैं और इधर-उधर जाड़े में ठिठुरते हुए पहाड़ी कुली टाँगों के नीचे सिर डाले नाच-घर से उतरनेवाला की प्रतीक्षा में ऊँघ रहे हैं। नाचघर की सीढ़ियों पर मढ़े हुए मोटे कालीन पर उतरनेवाले के पाओं की हलकीसी आहट उनको चौंका देता है और किसी अपरिचित को अपनी गली में आते देख कर सब आवारे कुत्ते उस पर चारों ओर से हू-हू करते हुए जिस प्रकार टूट पड़ते हैं, उसी प्रकार नाट्यशाला से उतरनेवाले साहब पर यह कुलियों का समुदाय एक दूसरे को धकेलता हुआ आगे बढ़ने का प्रयत्न करता

है और फिर सामने दरवाजे पर खड़े अंग्रेज सार्जेण्ट के बेत की चोट खाकर थका-सा लौट आता है।

मिस्टर माथुर ने कहा—'हैप्पी वैली जायँगे।'

'हापाहेली? मैं ही तो लाया था हुजूर को।' कह कर बेत की ताजी चोट खाये हुये दलबीर ने अपना रिक्शा बिलकुल सीढ़ी के किनारे लगा दिया। और मिस्टर माथुर ने उसी में अपना बरसाती कोट डाल दिया और बैठ गये।

'हापा हेली, क्या ही अच्छा नाम रक्खा है। हैपी वैली का कितना सुगम उच्चारण कर दिया।' मिस्टर माथुर सोचने लगे, इन पहाड़ी अशिक्षित कुलियों की खुरदरी जिह्वा पर बार-बार रगड़ते-रगड़ते अँगरेजी के नाम इतने सरल हो गये हैं कि इन्हीं की भाषा के से जान पड़ते हैं। हैपी वैली ही नहीं और भी कितने ही नाम ऐसे चिकने हो गये हैं। वाइसराय साहब के 'बॉडी गार्ड क्वार्टर्स' अब बारीघाट क्वाटर कहलाते हैं, मिनर्वा होटल, मनोरा होटल, सैह्वाय, रावाई और बालौगंज इनकी भाषा में बालूगंज हो गया है।

रिक्शेवाले ने अपने चारों साथियों को बुलाया और पाँचों उस रिक्शे पर जुट गये।

अपने जीवन की गत तीस वर्षों की सभी रातों का एक साथ सिंहावलोकन-सा करते हुए माथुर साहब ने मन ही मन कहा—'सर्वोत्तम रात—जिसका कि मैंने पहले कभी अनुभव नहीं किया—असीम आह्लादक।' और फिर उन्हें विचार आया कि जीवन की इस सर्वोत्तम सुहावनी रात का संयोग उनके जीवन के साथ किस प्रकार हुआ? एक ही वर्ष में मिस्टर माथुर द्वितीय महासमर की कृपा से नायब तहसीलदार से तहसीलदार, और तहसीलदार से डिपुटी कलैक्टर हो गये। जिस कौशल से उन्होंने अपने

इस बढ़ते हुए पद का मान रक्खा, यह डिवीजन के कमिश्नर से छिपा न रहा और जब जिले में एक म्युनिसिपैलिटी कांग्रेसियों के त्यागपत्रों से सूनी हो गई, तो उसका भी भार मिस्टर माथुर को ही सँभालना पड़ा, जिसके लिये उन्हें दो सौ रुपया मासिक और पारिश्रमिक मिलने लगा।

बूढ़े पिताजी ने राय दी कि बहिन की शादी के लिए इससे अच्छा और अवसर फिर न मिलेगा। इस समय सभी अहलकार और मातहत मदद करेंगे और आसानी से सारा प्रबन्ध हो जायगा। सब लोगों ने इस प्रकार सच्चे दिल से सहायता की और मिस्टर माथुर ने पिता की आज्ञा का ऐसा सदुपयोग किया कि वर्ष भर में बहिन की शादी के अतिरिक्त और भी दो शुभ काम सम्पन्न हो गये—छोटे भाई की शादी और लड़के का मुण्डन। मिस्टर माथुर को इतना व्यस्त रहना पड़ा कि मुकदमों के फैसले, जिनकी नहरें महीनों पहले सुनी जा चुकी थीं, लिखने इतने इकट्ठे हो गए कि रात के दो-दो तीन-तीन बजे तक टाइप बाबू के साथ उनको लिखाने और सुधारने में व्यस्त रहने लगे।

शरीर के साथ इतनी अधिकता कब तक चलती? खाना कम हो गया। एक रोज हलकी-सी छींकें आईं। नाक के तेल का प्रयोग किया, पर शाम को कचहरी से लौटते समय नाक और भौंहें कुछ गरम सी लगीं। जुकाम हो गया और फिर चारपाई का आसरा लेना पड़ा। जुकाम तो जल्दी अच्छा हो गया, लेकिन रोज तीन और चार बजे शाम को नाक और भौंहें अवश्य गरम हो जातीं और तापमान ९९ या ९९.४ डिग्री हो जाता।

डाक्टरों ने राय दी कि पहाड़ पर जाना चाहिये और वहाँ पर जाकर खूब आराम से किसी एकान्त स्थान में शहर की हलचल, धूमधाम और तड़क-भड़क से बचकर शान्तिपूर्वक

एक-दो महीना बिताकर लौट आना बहुत स्वास्थ्यकर होगा।

नैनीताल, अलमोड़ा, रानीखेत, शिमला और मसूरी सब स्थानों की उपयुक्तता पर गम्भीर विचार किया गया और बड़ी आलोचना के उपरान्त मसूरी के लिये सबने सहमति दी। माथुर साहब भी यही चाहते थे, क्योंकि उनके विचार में नैनीताल आर्द्र था, अलमोड़े में मोटर की यात्रा बड़ी दुखदायी थी, रानी-खेत में स्थान मिलना कठिन था, शिमला में शान्ति का अभाव था; लेकिन मसूरी पर्वत-नगरों की रानी इन सबमें अवश्य ही सुगम, सुलभ और सुन्दर जान पड़ती थी।

खड़खड़ाता हुआ रिक्शा किताब-घर के मोड़ पर मुड़कर दाईं ओर चलने लगा। सड़क के दोनों किनारों पर सुनसान काले बाज और बुरुश के पेड़ों के बीच में बिजली के तेज प्रकाश की बत्तियाँ उन पर मँडराते हुए अकेले या दो तीन पतिंगे, यही सब सुन्दर दृश्य देखते हुए मिस्टर माथुर उस रिक्शे में चलने लगे। पेड़ों पर उगी हुई हरी काई और पहाड़ी छाल-छबीले की सुगन्ध से भरी हवा कभी-कभी आकर उनके माथे पर टकरा जाती।

मिस्टर माथुर ने सोचा, एक बार मैंने प्रण किया था कि डाँडी पर न चढूँगा। भला, एक आदमी दूसरे आदमी के कन्धों पर सवार हो ? मैं जब तराई के उस जिले में था, तो अमुक थाने में जाने के लिए राप्ती नदी पड़ती थी। नाव से उतर कर कुछ दूर घुटनों तक पानी रहता था, जहाँ नावें न लग सकती थीं। मल्लाह, साहब लोगों को, जो जूता उतारने में संकोच करते थे, अपने कन्धे पर पानी के उस पार कर देता था। दारोगा साहब ने ऐसे ही किया; पर मैंने उसके कन्धों पर चढ़ना स्वीकार नहीं किया। मिस्टर माथुर को स्मरण हुआ कि एक बार पब्लिक सर्विस कमी-शन के एक सदस्य सिविल सर्विस की परीक्षा के विषय में आइ-

कोर्स कर रहे थे, उन्होंने कहा था कि एक ऐसी परीक्षा में यह पूछा गया कि भारत में कौन-कौन-से बोझा ढोनेवाले जानवर हैं, तो कई एक ने लिखा कि आदमी, भैंस, बैल, गधा आदि। तो उस बार वे सोच रहे थे कि क्या ऐसे परीक्षार्थियों को भी आई० सी० एस० बना दिया होगा, जो मनुष्यमात्र का इतना कम मूल्य समझते हैं कि उसे लद्दू जानवरों में गिनते हैं। वे अपनी इस सर्वोत्तम सुहावनी रात्रि में इन रिक्शावालों की पीठ पर चढ़कर क्या अपने एक उच्च आदर्श से गिर नहीं गये ?

रिक्शा रुका और अब ढाल पर चलने लगा। अब तीन कुली उसे पीछे से पकड़े हुए एकाएक लुढ़क जाने से बचाने लगे और दो आदमी आगे से जुटकर उसका सारा बोझ सँभाले—'खबरदारी ! खबरदारी !' चिल्लाते हुए सुनसान पगडण्डी की निस्तब्धता को भंग करने लगे।

हाँफते हुए एक कुली ने साँस रोकते हुए कहा—'फीता पकड़े रहिए साहब !'

मिस्टर माथुर ने देखा, पर्वत-प्रदेश की, रात की तीन बजे की शीतल वायु में भी उस कुली के माथे और ठुड्डी से पसीना चू रहा है।

'मनुष्य और पशु, लद्दू जानवर, मैं अपने उच्च आदर्श का पालन नहीं कर सका।' मिस्टर माथुर सोचने लगे—'लेकिन इसमें मेरा दोष नहीं, क्योंकि मैं अभी रोग से आरोग्य लाभ कर रहा हूँ, क्योंकि रात्रि की शीत में मुझे ठण्ढ लग जाने का डर है, क्योंकि नाचघर से यहाँ तक सड़क बहुत भयानक और सुनसान है, और क्योंकि इन लोगों का तो काम ही यही है। मैं यदि इस रिक्शे में न आता, तो भी इन लोगों को किसी और को बैठाकर ऐसा ही परिश्रम करना पड़ता।'

रिक्शा रुक गया। सामने पहाड़ के ढाल पर पतली-सी कंक-रीली पगडण्डी, उस पर दो सीढ़ियाँ और उसके ऊपर एक छोटा-सा अहाता था, उसी में था 'रोज विला' नाम का छोटा-सा बँगला, जो मिस्टर माथुर ने इस ऋतु के लिए दो हजार रुपये में किराये पर लिया था।

एक रुपया, बारह आना निकाल कर मिस्टर माथुर ने कुली को दिया और खट से उतर कर बिना पीछे देखे, आगे बढ़ गये।

'हजूर द्वि रुपया होंछो।' कह कर दलवीर ने उनका पीछा किया।

'डैम इट!' माथुर ने अपनी अस्थिर रेखाओं से परिवेष्टित उसी भयानक मुद्रा से कहा—'रात के एक घण्टे का पौने दो रुपया हम रोज देता है। जाओ!' और ये शब्द तोप से निकलनेवाले गोले की भाँति उनके मुँह से बड़ी तेजी से निकले। सुरा-मिश्रित धूमिल वाष्प का एक झोंका भी उनके मुँह से उस शीतल वायु में उड़ कर मिल गया।

दलवीर उस गोले की तीव्र कड़क से तो न डरा; लेकिन उसके बाद उड़नेवाले उस बारूद के धुएँ ने उसे अवश्य कुछ डरा दिया। साहब के नशे का विचार करके उसने कुछ नम्रता से कहा—'साहब, आज से रेट में बढ़ती भयो चार आने को!'

माथुर साहब ने मन ही मन सोचा—'आह! कितने भोले है ये लोग। जानते नहीं है कि ये किससे बात कर रहे हैं! मैं एक फर्स्ट क्लास मजिस्ट्रेट हूँ; वकीलों के दाँव-पेच में भी नहीं फँसता; वे भी कभी मुझे धोखा नहीं दे सकते और ये लोग मुझे ठगना चाहते है! मैं पी तो बहुत गया था, पर नशे में नहीं हूँ। मैं इनको नहीं पीटूँगा।' यह सोचते-सोचते वे सीढ़ियों पर चढ़ गये।

मनबहादुर से यह न सहा गया। दलवीर से भी आगे बढ़

कर उसने फाटक पर साहब का सामना किया और कहा—'हाजूर बेलि[1] लग[2] पौने द्वी रुपियाँ और आज बटी[3] हि भयोछ[4] कमेटी ले[5] मंजूर करंछ।'

माथुर साहब ने सोचा—'कैसे गँवार है ये लोग। मैं भी एक म्युनिसिपल बोर्ड का सर्वेसर्वा हूँ। भला, उस म्युनिसिपैलिटी में कोई ताँगे या इक्केवाला मुझ से इस प्रकार बात कर सकता है? पर मै शराब के नशे में अपनी बुद्धि नहीं खो बैठा हूँ। मै इसको जूते से नहीं मारूँगा।'

तब दलवीर ने पीछे से आकर मनबहादुर का कोट खींच कर कान में कुछ कहा और दोनों ने लौट कर अपने तीनों साथियों से कहा—'साब्ली मा हुंछ (नशे में है)।'

नाच के अपने कोट और टाई को सँवारते हुये, शाला के बक्षों की एक सुगन्ध-सी आकर मिस्टर माथुर के नाक से टकराई और उन्होंने फिर मन ही मन कहा—'बड़ी सुहावनी रात, स्प्लेण्डिड।' इस झोंके से रिक्शा वालों की पीठ पर आकर पथ-भ्रष्ट होने का विचार मिस्टर माथुर को अपने नशे को उमंग और विचारों का एक तिरस्कारपूर्ण हास्यास्पद नोरस उपहास-सा जान पड़ा। अपने ऊनी अंडरवोयर को पहिनते हुए वे मुस्कराये और सोचने लगे—नशे की सनक भी खूब होती है। मनुष्य ऐसे विभ्रम की सोच बैठता है जिसका वास्तविक संसार से कुछ भी सम्बन्ध नहीं। कहाँ तराई का वह नायब तहसीलदार और कहाँ मैं मिस्टर माथुर, मसूरी की नृत्यशाला, एक आई० पी० की पत्नी के साथ नृत्य! तराई के उन किन बुरे दिनों को याद आई? छिः! लड़कपन में

---

(१) बेली—कल (२) लग—तक (३) बटी—से (४) भयोछ—हुआ है (५) कमेटी ले—कमेटी से (म्युनिसिपैलिटी से)

भी कैसी आदर्शवाद की सूझ रहती है; कैसे अपरिपक्व विचार होते हैं और कितने सङ्कीर्ण!

कोट की पीठ को उलट कर फिर मिस्टर माथुर ने अपनी घ्राणेन्द्रिय का यथाशक्ति उपयोग किया। हलकीसी गन्ध उस स्थान से आ रही थी, जहाँ देर तक शीला का हाथ रहा होगा। इस सर्वोत्तम सुहावनी रात्रि की मानो यहाँ पर एक सूक्ष्म-सी सृष्टि हो, ऐसे ध्यान से माथुर साहब ने फिर उस स्थान का निरीक्षण किया।

मखमली दुलाई के अन्दर पैर फैलाये हुए फिर मन ही मन उन्होंने कहा—आह, बड़ी सुन्दर रात कटी। पर्वत-प्रदेश के इन सुरम्य स्थानों को ही देखकर मैं लुब्ध हो गया था। प्रकृति की छटा ही मुझे यहाँ सब कुछ जान पड़ती थी। इन नृत्यशालाओं को मैं उपेक्षा की दृष्टि से देखता था। किन्तु इस प्रकृति सौन्दर्य की पृष्ठ-भूमि पर जिस असाधारण सौन्दर्य का अस्तित्व रहता है, वह मैं अब तक देख ही न पाया था। इंगलैंड के सुन्दर नाच घरों से भी बढ़कर हमारी ये नृत्यशालाएँ हैं। इनमें अंग्रेजी ही नहीं, भारतीय, चीनी, बरमीज और तुर्क सभी देशों की सभी सभ्यताओं का समावेश हो गया है। सभ्यता की यह वह श्रेणी है, जिसे अबतक अमेरिका का संयुक्तराष्ट्र ही कर सका है।

(५)

दिन भर की रिक्शे की कमाई में आज नौ रुपये मिले।

जब से वर्षा का आरम्भ हुआ, आज पहला दिन था कि इतने रुपये प्राप्त हुए। पाँच रुपये मालिक को किराये के देने पर भी प्रत्येक के हिस्से में तेरह तेरह आने आए।

मनबहादुर ने केवल एक आना आटे के लिए बचाया और बाकी अपने हम बटुए में डाल दिया। पारसाल अपनी माँ से झगड़कर

वह घर से भागकर मसूरी आ गया था। यहाँ एक पहाड़ी मेट के रिक्शे में काम करने लगा और दीवाली के बाद जब वह घर लौटकर गया, तो रुपये और खरीज सब मिलाकर तैतालीस रुपये निकले। मेट के साथ मजदूरी अच्छी मिल जाती थी। रिक्शा उसका अपना था और वह खुद भी कुलियों के साथ जुटकर खींचता था। दिनभर की कमाई का आधा लेकर, बाकी सबको बराबर बाँट देता था।

इस रात भी मनबहादुर रुपये की चिन्ता में था। कब दो सौ जुटें और वह रिक्शा खरीदे? पर रुपयों का जुटना कठिन था। टोलियों से अब तक उसके पास कुल तीस रुपये के लगभग जमा हुए थे। फिर भी आज बहुत दिनों के उपरान्त एक रुपये के करीब उसके पास बचा।

मनीराम ने, जो जाति का ब्राह्मण था और जो रिक्शे से छुट्टी पाने पर सबके लिए एक समय खाना पका देता था, प्रस्ताव किया कि आज एक साग बन जाये।

खड्कू ने जो चूल्हा पोतता था और उसके तसले और तवे को मलकर साफ करता था, कहा—'भाई, मेरे तो हाथों में इतना जोर नहीं कि तवे और तसले के ऊपर कढ़ाई भी मलूँ; रात भर तो इसी में बीत जायगी।'

दलवीर ने हँसकर कहा—'आज के लिए तो सागी-रोटी भी होगी।'

सूखी मेथी, अदरख, सतावर की नई कोंपलों को कूटकर मिर्च के साथ जो साग की रोटी पाँच रोज पहले पकाई गई थी, उसी का एक-एक बालिश्त के बराबर टुकड़ा, सूखी रोटियों के साथ पाँचों कुली इतने दिनों से खाते आ रहे थे। मसूरी जैसे स्थान में आने पर भी अपने देश की इस प्रिय वस्तु को छोड़ और

कोई तरकारी बनाने का व्यय करने का साहस अब तक इन लोगों को न हुआ था।

❀ ❀ ❀

खाते-खाते बाहर पानी रुक गया था। मसूरी के ऊपर रात्रि के तृतीय प्रहर की उस निस्तब्धता में एकाएक आकाश स्वच्छ हो गया। चन्द्रमा का शुभ्र सद्यःस्नात प्रकाश उस पर्वत प्रदेश की रानी के ऊपर आकर खेलने लगा। सड़कों, छतों, पेड़ों के कोटरों और नालियों में अटका हुआ पानी चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब से खेलने लगा। नील आकाश के नीचे, पर्वतों से उतरकर बहनेवाली छोटी-छोटी नदियों, दूर हरिद्वार और सहारनपुर तक फैले शिवालिक के समतल अंचल पर, श्वेत दुग्धधार सी दिखलाई देने लगीं और दूसरी ओर श्यामल पर्वत-राशि के पीछे श्वेत हिमालय की श्रेणी विशाल ब्रह्माण्ड की एक नवजात कोंपल की भाँति स्निग्ध निश्चेष्ट खड़ी थी।

दलबीर ने अपनी भाषा में कहा—'भाइयो, आज दिन तो बहुत अच्छा बीता, रात भी खूब अच्छी है। ईश्वर ने चाहा, तो कल सूर्य देवता के दर्शन अवश्य होंगे।'

मनबहादुर ने आकाश की ओर देखकर कहा—'हाँ, चाँद के निकट जो तारा आया था, वह अब दूर चला गया है। कुछ दिनों तक अब पानी न पड़ेगा। और, एक सुरीले पहाड़ी गीत की तान उसने छेड़ दी—

छान का ऊपार
धान की छ सार,
दीठ जैरे बाँलो तेरी,
ओ जून जुन्याली, बाँ तेरि अन्यारी...

अर्थात्—पर्वत श्रेणी के उस पार—

सीढ़ी के आकार के धान के खेत हैं,
वहाँ भी तेरी दृष्टि जाती होगी,
ऐ शुभ्र चाँदनी, वहाँ तेरी अनुहार की

'चिन्ता न कर भाई !' दलबीर ने कहा—'कल डिपो की ओर चलना, अच्छी सवारियाँ मिलेंगी। तब तू भी उस पार अपने देश की ओर देख लेना।'

'धान के खेत तो इधर भी दिखलाई देते हैं।' मनीराम ने हँस कर कहा—'देहरादून का धान तो प्रसिद्ध ही है।'

'लेकिन चाँद के अनुहार की सगाई जिससे हुई है, वह भला, वहाँ कहाँ है ?' दलबीर ने कहा।

इस उपहास की अवहेलना करते हुए मनबहादुर ने कहा—'दादा, आज तो बाहर सोने को जी करता है। कहो तो रिक्शे में ही सो रहूँ ?' और वह रिक्शे की ओर, जो दिन के परिश्रम से मुक्त धवल चाँदनी में नहा रहा था, बढ़ा। एकाएक एक काली-सी वस्तु गद्दी पर बैठी हुई-सी उसे दिखलाई दी।

'यह देखो, कुत्ता पहले ही से यहाँ बैठा है।' कहकर उसने दलबीर का ध्यान उस ओर आकृष्ट किया।

'कुत्ते भी जमीन पर नहीं सो सकते, मेमों की नकल करते हैं !' कहते हुए दलबीर ने एक डण्डा लिया और उस काली चीज पर दे मारा।

'लाइये किराया चार घण्टे का।' हँस कर कहा।

पर एक 'गद' से शब्द के और कोई भी उत्तर न मिला। डण्डे को आगे बढ़ाकर उसने उस काली वस्तु को उठाया। वह कुत्ता नहीं ओवरकोट था। सहसा उसे याद आया, यह उन्हीं साहब का था, जिन्हें ये लोग नाचघर से हैप्पी वैली छोड़ आये थे।

'सुना तुम लोगों ने' भँगेले के अन्दर ऊँघते हुये दोनों और कुलियों को झकोरते हुए महाराज ने कहा—'साहब का बड़ा कोट तबले में पड़ा रह गया।'

'एँ एँ' कहते हुए वे जाग पड़े और पास आकर उत्सुकता से दलवीर की ओर देखने लगे कि अब उसकी क्या आज्ञा होती है।

मनोरंजन का यह शान्त वातावरण एकाएक गम्भीरता में परिवर्तित हो गया और सब की यही इच्छा हो रही थी कि इस अशुभ उत्तरदायित्व को किस प्रकार शीघ्र टाला जाय।

'मैं तो इस अकेली रात में सुनसान जंगल की सड़क पर चार कोस पैदल अकेला न चल पाऊँगा।' दलवीर ने कहा।

मानबहादुर ने हँसाते हुए कहा—'आज रात भर में गैर को मौज अच्छी हो जायगी, यही सोच रहा था। पर तुम तो मुझे भी घसीटे लिये जाते हो। चलो भाई, जितनी जल्दी हो, इसे लौटा दें।'

दोनों ने अपने गीले कोट कन्धों पर डाले और लम्बे लम्बे कदम बढ़ा कर पहाड़ के ऊपर चढ़ने लगे। उनके तीनों शेष साथी रात्रि के वीरों की भाँति युद्ध-यात्रा को जाते हुए उनके मार्ग का कुछ दूर तक आँखों से अनुसरण करके, आँधी की उथल-पुथल में फिर आकर भँगेलों के अन्दर घुस गये।

चढ़ाई के समाप्त होने तक दलवीर और मनबहादुर भी आपस में कुछ न बोल सके। समतल सड़क पर आकर दलवीर ने कन्धे पर से उस भारी कोट को उतार कर अच्छी प्रकार सँभाला। तभी खट से कोई चीज उसके अन्दर की जेब से खाकर गिर पड़ी—काली-सी भारी वस्तु थी।

मनबहादुर ने चट उठाकर देखा, चमड़े का बटुआ और उसके अन्दर झनझनाते हुए रुपये-पैसों के ढेर और शायद नोट

के कागजों की एक पूरी गड्डी थी। पोंछ कर उसने उसे तत्काल ही दलवीर को वापस कर दिया—एक भयकर आशका से उसका हृदय कॉप उठा।

'बहुत भारी लगता है। कुछ नहीं तो हजार रुपया तो सब भी होगा।' दलवीर ने हाथ से उसे जॉच कर बताया।

'हॉ जी, रख दो हमें क्या करना? उसी जेब में रख दो, जहॉ से गिरा है। अभी तुम खोल न लेना इसे।'

'क्या मै इतना भी नहीं जानता,' दलवीर ने कहा—'भला, मै क्यों खोलने का!' और सँभाल कर उसने उसे अन्दर की जेब में डाल दिया।

'पारसाल मैने ऐसे ही एक डॉडी में घड़ी पाई, एक साहब की।' मनबहादुर ने कहा—'बड़ा भला आदमी था वह। जब दूसरे दिन मैं उसे लौटाने सनी-व्यू गया, तो बहुत खुश हो गया। ठेठ हिन्दुस्तानी में बोला कि तुमने हम को हमारे बाप की चीज लौटा दी। हमारे बाप ने हमको यह घड़ी दिया था और हमारे बाप को भी उनके बाप ने दिया था। जानते हो, उसने क्या इनाम दिया मुझको? यही लाल कम्बल जो मै घर दे आया हूँ और दस रुपये का एक नोट।'

'आज यह साहब भी कुछ न कुछ जरूर इनाम देगा।' दलवीर ने कहा—'रात में हम लोग इतनी दूर दौड़े हैं। मनबहादुर, मैं तो कहता हूँ कि इसमें हजार-हजार के नहीं तो सौ-सौ के दस-पन्द्रह नोट तो तब भी होंगे। अगर एक नोट सौ का बख्शीश में दे दे तो...?'

'हॉ भाई, तब तो पचास-साठ हम सब लोग मिल कर और जुटा लेंगे।' मनबहादुर ने कहा—'और कल को अपना एक रिक्शा खरीद लेंगे। दिन भर तो हम लोग कंकड़-पत्थरों में

दौड़ते फिरते हैं । न खाने की फुरसत रहती है और न तम्बाकू की एक फूँक लगाने का समय । जो कुछ शाम को कमाया, वह सब रिक्शे के मालिक को दे देना पड़ता है । मैं तो कई दिनों से सोच रहा हूँ कि किस प्रकार सब लोग मिलकर एक रिक्शा खरीदें ? फिर जो कुछ भी कमाया जाय, अपने ही पास रहेगा ।'

(६)

साहब को देर तक नींद न आई थी । अधिक खा जाने से पेट की प्रयोगशाला में अम्ल क्षार और सुरा अपना प्रभाव दिखला रहे थे । करवट बदलते-बदलते घड़ी की घण्टी की चार आवाजें वे सुन चुके थे । तब आँगन में खटपट का शब्द सुनकर वे चौंक गये । सीढ़ियों से कोई ऊपर आ रहा था । अब वह बरामदे में आ गया ।

बिजली का बटन दबाकर उन्होंने प्रकाश किया और पुकारा—'अब्दुल्ला, खानसामा, खानसामा !'

इस रात में भला कौन-सा मान्य पाहुना उनके यहाँ आ सकता है, यही सोच कर उन्होंने अपने बक्स में से अपना 'वैबली स्कोट' तमंचा निकाल लेना ही उचित समझा । पलंग से उठकर चाबियों का गुच्छा ढूँढ़ा, पर कोट की जेब में उसका पता न था । लम्बे कोट की जेब में होगा, यही सोचकर वे उस बड़ी सी आलमारी की ओर बढ़े, जहाँ नौकर को बड़े कोट को रोज टाँग देने का आदेश था । पर वहाँ आलमारी खाली थी ।

बाहर जूतों की चरमर बन्द हो गई थी । चोर अपना काम करके चले गये, यही सोचकर साहब ने फिर पुकारा—'अब्दुल्ला, अब्दुल्ला, दौड़ो; चोर भागे जाते हैं, दौड़ो !'

अब्दुल्ला को उठने में देर न लगी । दौड़ता हुआ वह जब

अन्दर को बढ़ा, तो खिड़की के पास बरामदे के किनारे दो काली परछाइयाँ देखीं। हाथ की लकड़ी जोर से उसी ओर ताक कर मारी और तब उधर से पुकार कर किसी ने कहा—'हम हूना हो. फालतू, फालतू हुना हो हुना फालतू।' ‡

फालतू का नाम सुनते ही खानसामा का उत्साह बढ़ गया। इस निर्दोष दब्बू कुली से लड़ने में सभी नरपोच वीरता का अनुभव करेंगे। महीनों से जिस मरियल कुत्ते की पूँछ टाँगो से बाहर न निकली हो, वह भी अपनी गली में फालतू को देखकर इनके इस प्रदेश में शेर बन जाता है।

'चोरी करने आया था?' कहते हुए उसने दोनों को एक साथ बरामदे में पटक दिया और तब साहब ने भी दरवाजा खोल कर बरामदे में पदार्पण किया।

'ओह! ये हमारा कोट लिये जाता था।' साहब ने कहा।

अपनी अस्पष्ट भाषा को यथासाध्य हिन्दुस्तानी बनाते हुए दोनों ने कहा—'नाहीं हजूर, नाहीं। चोर नाहीं, हम रिक्शा खींचता है। हम चोरी नहीं करता। हम ऐसा काम नहीं करता।'

'तुम ऐसा काम नहीं करता और'—एक लात जमाते हुए खानसामा ने कहा—'यह कोट नहीं चुराया तुमने? यह क्या है?'

'नहीं, नहीं; नहीं साहब, हम तो ये तुमको देने आया था—रिक्शा में पड़ा था रहा'। दोनों ने एक साथ साँस रोक कर कहा।

'अब यह बात बना रहे हो!' खानसामा ने कहा।

स्लीपिंग गाऊन पहिने साहब सोच रहे थे कि अब फोन करके पुलिस को बुलाना चाहिये। रिक्शावालों का यह साहस! एक

‡ देहरादून के जिले में कुली को फालतू कहते हैं, विशेष कर रिक्शा और डाँडी वाले गढ़वाली कुली को।

मजिस्ट्रेट के यहाँ चोरी? पर कुलियों को अंतिम बात ने उन्हें सन्देह में डाल दिया। हो सकता है कि ओवरकोट रिक्शे में रह गया हो।

'रुको, रुको अब्दुल्ला, जरा देख लें कि सचमुच इन्होंने ओवरकोट चुराया है या नहीं।' साहब ने कहा—'पहले मुझे जाँच कर लेने दो।'

'आलमारी तो खुली थी। क्या तुमने उसे सोते समय बन्द किया था?'

'जी सरकार!' अब्दुल्ला ने कहा—'मुझे खूब याद है।'

'अच्छा, तो वे लोग बाहर आये किधर से?' उत्तर की प्रतीक्षा किये बिना साहब अन्दर चले गये। आलमारी के आस पास फर्श पर कहीं भी गन्दे पाँवों के चिन्ह न थे, खिड़कियाँ बन्द थीं और कोई ऐसी बात न थी, जिससे चोर के अन्दर आने का सन्देह किया जा सके।'

'तुमने यह कोट जब हम आये थे, तब सँभाल कर आलमारी में रक्खा था?' साहब ने पूछा।

अब्दुल्ला को इस बात का स्मरण न था; पर इसका यदि स्मरण न रहा, तो उसी की गलती थी, और अपनी गलती को इतनी सरलता से स्वीकार कर लेना उसने न सीखा था। कुछ सोच कर बोला—'खूब याद है हुजूर! मैंने इसे रिक्शे से उठा कर अन्दर आलमारी में रक्खा था।

'नाहिं-नाहि नाहि हजूर!' दोनों कुलियों ने कहा।

पर साहब, जो अभी दूसरी मुद्रा को धारण किये थे, बोले—"हमको पहले सुन लेने दो बेवकूफ! फिर बाद में तुमसे भी पूछा जायगा।'

'कमरे में तो कोई ऐसी बात नहीं, जिससे चोर के अन्दर

आने की आशंका की जाय।' साहब ने न्यायालय की भाषा में गम्भीरता से खानसामा से प्रश्न किया, मानो वह पुलिस की ओर से सरकारी वकील हो।

'यह देखिये साहब, यह खिड़की आसानी से झटका देने पर खुल जाती है।' खानसामा ने कहा और हाथ का एक जोर का धक्का देकर उसे अन्दर की ओर खोल दिया। फिर कहा—'यहाँ से वह आलमारी साफ दिखलाई दे रही है।'

'पर इस खिड़की में लोहे के डण्डों में इतना फासला तो नहीं है कि चोर अन्दर घुस जाय ?' साहब ने उसी प्रकार प्रश्न किया।

'हुजूर, इन फालतू लोगों को आपने नहीं देखा। ये बिल्ली की तरह दुबक कर इससे भी कम जगह में घुस जाते हैं।' खानसामा कहता गया—'रिक्शे की गद्दी के अन्दर देखा है सरकार आपने, कितनी तंग जगह होती है; उसी में रात को दो-दो तीन-तीन सोये रहते हैं।'

साहब ने सोचा, उन्हें तो तब से नींद नहीं आई। अगर इनमें से कोई अन्दर घुसा होता, तो अवश्य कुछ न कुछ हलका-सा शब्द तब भी कानों में पड़ता। डण्डों से झाँक कर साहब ने देखा, खिड़की के पास पड़ा हुआ आज का समाचार-पत्र वहीं पड़ा था। उसे उठाते हुए उन्होंने कहा—'यह अखबार तो यहीं पर रक्खा हुआ है। इस खिड़की से ये लोग अन्दर न गये होंगे।'

खानसामा को सोचते देर न लगी; बोला—'ये लोग अन्दर न गये हों, पर फिर भी एक टेढ़ी लकड़ी डाल कर इन्होंने खूँटी पर कोट को अटका कर बाहर निकाल लिया होगा।' और तब कोट तुरत हाथ में लेकर बिजली के प्रकाश में उसने खोल कर देखा। पीठ पर मिट्टी की एक लम्बी-सी लकीर बनी थी। और तब

प्रसन्नता से नाच कर उसने कहा—'देखिये सरकार, वह निशान बना है। मैंने क्या कहा था।'

दलवीर ने कुत्ता समझ कर यहाँ पर डण्डा मारा था, वह बोल उठा--"नाहीं हुजूर हमलें कुत्ता ..'

पर बीच में ही साहब ने उसे टोक कर कहा—'हो सकता है तुमने इस कोट की चोरी की, और लकड़ी से खींच कर इसे आलमारी से चुरा कर तुम भागे जाते थे, लेकिन तुमने चोरी की या नहीं, इसमें मुझे सन्देह है। और सन्देह का लाभ, कानून कहता है कि मुलजिम को मिलना चाहिए। इसलिये यद्यपि, अब्दुल्ला के बयान से तुम्हारे ऊपर पूरा-पूरा अपराध आ जाता है, फिर भी इसे चुराते हुए देखने का प्रत्यक्ष प्रमाण न होने से हम, तुम दोनों को छोड़ देते हैं। तुम दोनों अब जा सकते हो।'

दोनों कुलियों ने इस वक्तृता में से केवल इतना ही समझ पाया कि उनको छोड़ दिया गया। झटपट लौट कर वे सीढ़ियों से उतर गये।

उस लट्टू का और 'बख्शीश' का किसी को भी स्मरण न रहा और न्याय के इस सुलभ निर्णय पर तुरन्त ही पहुँच जाने के हर्ष में, अपनी न्याय-प्रियता पर स्वयं अपने को बधाई देते हुए मिस्टर माथुर सोचने लगे—'आज की रात सचमुच बड़ी ही मनोरंजक रही।'

१२

साँवला

"तुम जो कुछ हो वह मेरे अन्वेषण का फल है, उसमें सब सुन्दर और नवीन है, उसमें आलोचना का स्थान ही नहीं।" डाक्टर पण्डित के ये शब्द अब तक सविता ने कई बार मन ही मन दुहराये और बार-बार उसे यही शंका होती, क्या यह सच हो सकता है। अतीत की स्मृतियाँ उसके सम्मुख आतीं और चलचित्रों की भाँति फिर मिट जातीं। इन सात वर्षों में वह क्या से क्या हो गई और पुरुष जाति ने किस प्रकार पग-पग पर उसे ठुकराया।

वह लड़की थी, पढ़ती थी; बहुत होशियार थी। परीक्षाओं में प्रथम रहती थी और उन सब परीक्षाओं के प्रशंसा-पत्र उसके पास हैं; पर अब उसमें न वह गर्व रह गया है और न वह पढ़ने की उमंग। लड़ाई के तमगों की भाँति प्रमाण-पत्र बक्स के किसी कोने में पड़े हैं और सविता एक पराजित क्षीण-काय योद्धा की भाँति कभी उनकी ओर देख भर लेती है, क्योंकि उनकी कहानी अब विश्वास की बात नहीं रही। फिर उसे रिसर्च के लिए छात्र-वृत्ति मिली। उसने अनुसन्धान किये। रंगों पर प्रयोग किए। वह एक वैज्ञानिका थी। वैज्ञानिकों ने उसके प्रयोगों की प्रशंसा की कि

सविता ने रंग के प्रयोगों की वह व्यावहारिक शाखा ग्रहण की है कि एक दिन संसार की काली, पीली और गोरी जातियों का रंग-भेद एक उपहास की वस्तु रह जायगा। मनुष्य जो चाहेगा-- काला, पीला और गोरा रूप धारण कर सकेगा। इन्हीं में से एक वैज्ञानिक से उसकी घनिष्ठता हुई। उस वैज्ञानिक को सविता ने अपने हृदय में स्थान दिया, किन्तु जब उससे साक्षात् हुआ, तो वह सविता से बोला तक नहीं, क्योंकि वह सुन्दर न थी, उसका रंग साँवला था।

यह परिचय और उस वैज्ञानिक का साक्षात्कार सविता के जीवन की एक दुर्घटना थी, जिसने उसके जीवन का पृष्ठ ही उलट दिया। सविता ने प्रण कर लिया कि अब पुरुष जाति का विश्वास ही न करूंगी। वह पुरुषों से डरती और घृणा करती--विशेषकर शिक्षित और सभ्य कहलाने वालों से और उनमें भी वैज्ञानिकों से उसकी खास चिढ़ थी। किन्तु सात वर्ष के शुष्क और नीरस जीवन के उपरान्त, जब उसकी जीवन-लीला एक स्कूल की परिधि में ही सीमित हो गई थी, एकाएक उसकी डाक्टर पण्डित से भेंट हो गई और उस शान्त और सन्तुष्ट जीवन में एक भूकम्प-सा आ-पड़ा और कल डाक्टर के अन्तिम शब्दों से वह शंका करने लगी कि शायद उसका निश्चय उचित न था।

वह सोच रही थी--'उस दुर्घटना के उपरान्त मैंने आजन्म अविवाहित रहने का प्रयत्न किया था; पर इन चौबीस घण्टों में मुझमें कितना परिवर्तन हो गया। कल ठीक इसी समय मैं कुछ और थी और आज कुछ और। लेकिन यह सब बड़ी जल्दी हो गया। मुझे विवाह की बात पक्की होने से पहिले ही सब कुछ डाक्टर पण्डित को बतला देना होगा। मुझे अवश्य बतला देना चाहिए। हाँ मैं अपना हृदय उनके सामने खोल कर रख दूँगी।

फिर चाहे वे विवाह के लिये उत्सुक हों अथवा नहीं, यह उन्हीं के ऊपर निर्भर रहेगा। पर शायद फिर वे अपना विचार बदल दें। और मैं? मैं वही रहूँगी जो कल और उससे पहिले थी।

'कल का वह स्वप्न! क्या वह स्वप्न मात्र था। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते मुझे झपकी-सी आ गई थी और मैंने देखा, नदी के किनारे एक मेला जुटा हुआ है। अनेक दम्पति वर्ग प्रात:काल के शीत प्रकाश में स्नान कर रहे हैं। सभी प्रसन्न-मुख और दत्तचित्त हैं और हँसते-खेलते शान्ति से चले जा रहे हैं। मैं अकेली घाट के दूसरी ओर चली जा रही हूँ। मेरा मार्ग पश्चिम दिशा की ओर है। उधर न प्रकाश का आभास है और न कोई प्राणी ही दिखलाई दे रहा है, किन्तु मुझे तो उधर ही जाना है। मुझे न नदी से प्रेम है, न नहाने वालों से कोई सम्बन्ध है। नदी के उस पार अगर नहाने वालों में से किसी की दृष्टि अनायास ही मुझ पर पड़ भी जाती है, तो वह अपनी आँखें शीघ्र मेरी ओर से फेर लेता है, मानो उसने कोई अशुभ वस्तु देख ली हो।

'तो क्या अविवाहित रहना अनैसर्गिक जीवन है? क्या जीवन का दुख-सुख बाह्य अवलम्बनों पर ही निर्भर है? क्या स्त्री में अपने व्यक्तित्व के पूर्ण विकास और उसी में लवलीन रहने की क्षमता नहीं है? अगर डाक्टर पण्डित ने भी अपना विचार बदल दिया, तो क्या मेरा जीवन दुखमय हो जायगा? पर नहीं, मैं अवश्य उनसे अपने अतीत का पूरा-पूरा वर्णन कर दूँगी; मुझे करना चाहिये। उन्होंने कहा था कि—'मैं निश्चय कर चुका, अब मुझे कोई भी बात विचलित नहीं कर सकती।' मुझे जो कुछ कहना है, तो क्या उससे वे विचलित हो जायँगे? उसमें मेरा दोष भी तो नहीं है। मैंने तो कभी न रमेश से विवाह का प्रस्ताव पेश किया था और न उस बुढ़िया से। उन्होंने अपने

आप प्रयत्न किया था और अपने आप अन्त में उस प्रस्ताव को स्थगित कर दिया था।

'तो क्या मैं चुपचाप डाक्टर पण्डित की बात स्वीकार कर अपनी सहमति दे दूँ? पर यह सब बहुत जल्दी हो रहा है। और उस बार भी तो यही हुआ था; रमेश ने अपने पत्रों से मुझे परेशान कर दिया था। और मैं भी बिल्कुल धोखे में आ गई थी। मैंने अपने मित्रों से भी उसके विषय में राय ले ली थी और अन्त में उसने मेरे साथ विश्वासघात किया।

'उन दोनों घटनाओं को—आह! उनकी स्मृति अभी कितनी तीव्र और दुखद है!—पूरी तौर से उनके सामने प्रगट किये बिना मुझे शान्ति नहीं मिल सकती। इस चुभते हुये काँटे को मैं जब तक निकाल कर फेंक न दूँगी, मुझे सुख न मिलेगा। पर मेरा कैसा दुर्भाग्य है! रमेश ने भी ऐसी ही जल्दी मचाई थी और डाक्टर पण्डित तो उससे भी अधिक जल्दी किये हैं। वे मुझे अपनी बात तक कहने का अवकाश नहीं देते। मैं जल्दबाजी से डरती हूँ। पर मैं तो अपनी राय दे चुकी और मैंने भला, क्यों इतने शीघ्र अपनी राय दे दी। तो क्या मुझे चुप रहना चाहिए था; क्या उनके प्रस्ताव को ठुकरा देना चाहिये था?

'नहीं, गणेश रूप का उपासक था, पर वह मेरे गुणों पर रीझ गया था। उसने मेरे लेखों को देख कर, मेरे विचारों पर मोहित होकर, शायद अपने हृदय में मेरी जो कल्पना मूर्ति बनाई थी, उसके सम्मुख मैं ठीक वैसी ही नहीं उतरी। जब हमारा साक्षात् हुआ, तो वह अवश्य निराश हुआ, बोला तक नहीं—चुपचाप चल दिया। तो क्या डाक्टर पण्डित से भी यही आशा की जाती है? नहीं, उन्होंने क्या कहा था—'मैं तुम्हारी विद्वत्ता अथवा और किसी आकर्षण से आकृष्ट होकर तुमसे यह प्रस्ताव नहीं कर रहा

ई। मुझे तो ऐसा भास होता है, मानो मैं तुम्हारी ही खोज में अब तक था। अब जो कुछ तुम हो, वह मेरे अन्वेषण का फल है, उससे सब सुन्दर और नवीन है; उसमें आलोचन और संशोधन का स्थान ही नहीं।'

'और क्या मैं भी ऐसे ही देव की उपासना में लगी थी? लेकिन मुझे तो आशा ही न थी कि कभी वह साक्षात् रूप लेकर मेरे सम्मुख आ जायँगे। उनका भोलापन और स्पष्टवादिता और उनका सहज स्नेह, क्या मैं ऐसे ही देव की कल्पना नहीं कर रही थी? मैं सुन्दरी नहीं थी, इसलिए लोगों ने मुझे पसन्द नहीं किया, पर उनके लिए बाह्य सौन्दर्य कोई आकर्षण नहीं है। उन्होंने मेरा हृदय पहिचान लिया। उस दिन उनके विवाह के प्रस्ताव पर, मुझे किंचित भी लज्जा नहीं आई। मेरी प्रकृति उस समय काम कर रही थी, क्योंकि मैं स्वयं जान-बूझ कर कुछ भी नहीं कर रही थी। अब मानो मुझे बल मिला, मुझे नया शरीर मिल गया। मुझमें अब दिव्य शक्ति आ गई। विधाता ने किस विचित्र रीति से मनुष्य की सृष्टि की है। अभी एक दिन पहिले, मैं सोच रही थी कि सारा संसार मेरी ओर तिरछी दृष्टि से देख रहा है। मैं प्रकृति के संगीत में अपना जीवन-स्वर नहीं मिला सकती; किन्तु आज ऐसा जान पड़ता है कि मेरे ही हृदय में प्रकृति का मधुरतम संगीत भरा था; लेकिन सब अदृश्य और तितर-बितर था। मेरे जीवन में बोझ-सा जान पड़ता था, वही उनके प्रस्ताव में सुव्यवस्थित होकर जीवन-गान बन कर सम्मुख आ गया।

'पर इस प्रकाश के बीच में, जो वह अन्धकार-सा अतीत, सिमट कर, सिकुड़ कर तले में बैठ-सा गया है, उसे मुझे उनसे कह कर निकाल भगाना होगा। मुझे सब कुछ साफ़ साफ़ बतला देना होगा? देव क्या तुम मुझे फिर क्षमा न कर दोगे? स्मृति

की वह काली छाया-सी मुझे घेरे है। तुम स्पष्टवादी हो, मैं तुम्हारा अनुकरण करूँगी। मैं तुम्हारी हूँ। पर हमारे बीच जो यह छाया है, जो मुझे शंका है, फिर वृहत्तर रूप न बढ़ा ले। उसे कह कर मुझे बहा देने का अवसर दो।'

(२)

सविता ने अपने उस पुराने बक्स को खोल कर उन पत्रों और कागज़ों को निकाला। आज उनका अन्तिम दिन था। मानो आज ही की प्रतीक्षा में वे सब अब तक सुरक्षित रक्खे थे। उनमें सविता के विगत सात वर्षों का इतिहास अंकित है। उनमें वह तस्वीर है, जिसके कारण स्कूल में हलचल मच गई थी। गणित की अध्यापिका ने सबसे जाकर कहा था। उसमें रमेश के पत्र है, जो उत्तरोत्तर प्रेम-पूर्ण बनते गये थे और उनमें वह भी पत्र है, जो सविता ने रमेश को भेजा था; किन्तु नौकर की ग़लती से भेजा न जा सका था। आज उन सब को वह डाक्टर पण्डित के सम्मुख रखने का निश्चय करने लगी।

ठीक सात बजे डाक्टर पण्डित ने आने को कहलवाया था। सविता ने तब तक उन सब पत्रों को बाँध कर बैठक के कमरे में मेज़ की एक दराज़ के अन्दर रख दिया। ज्यों-ज्यों सात बजने का समय निकट आने लगा, उसके लिये चुपचाप मेज़ पर बैठ कर प्रतीक्षा करना असम्भव-सा हो गया। उसने फिर अपनी पुस्तकों में ढूँढ़ कर अपने उन तीनों लेखों को निकाल कर रख लिया, जिन पर रमेश अपने विचार प्रकट करता था। उनमें उसका वह लेख भी था, जिसमें रंग-विषयक वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर उसने अपने विचार प्रकट किये थे।

इन सब को यथोचित स्थान पर रख कर, वह मेज पर आकर फिर बैठ गई। उसका सिर घूम रहा था। रात भर जागकर मानो परीक्षा में बैठने आई हो और अब सब कुछ स्मरण कर लेने के उत्साह में कुछ भी याद न रहा हो। उस समय एकाएक डाक्टर पण्डित के कमरे में आ जाने से, उसे ऐसा जान पड़ा, मानो वह चोरी करती हुई पकड़ी गई हो। 'क्या कहूँ? कैसे आरम्भ करूं?' इसी उधेड़ बुन में वह खड़ी-खड़ी रह गई—उसके मुँह से स्वागतार्थ एक शब्द भी न निकल पाया।

"क्षमा करना" डाक्टर ने कहा—"मैं अपने दो मित्रों को भी साथ लेता आया हूँ। और वे .."

सविता की भयाकुल मुद्रा को देख कर डाक्टर और कुछ कहने से रुक गये।

खड़े-खड़े सविता ने कहा—'मुझको आपसे बहुत सी बातें कहनी थीं।

"ये लोग जरा, थोड़ी देर में चले जायेंगे।" डाक्टर ने कहा—"मैंने कुछ कुछ जल्दी अवश्य कर दी है, पर यह आप की ही कृपापूर्ण सम्मति से। इनमें से एक रजिस्ट्रार है और दूसरे एक वकील। यह देखो, मैं यह दस्तावेज भी लिखा लाया हूँ। आज यहीं पर रजिस्ट्री हो जायगी।" प्रसन्नता की एक मधुर मुस्कान डाक्टर की मुद्रा पर अंकित हो गई।

सविता खड़ी न रह सकी। कुरसी पर गिरते हुये उसने कहा—"क्या इतनी जल्दी! मुझे बिना अपनी बातें कहे शान्ति न मिलेगी। मैं तो अपना निश्चय कर ही चुकी, पर—"

डाक्टर बीच ही में बड़ी नम्रता से बोले—"आप निश्चय कर चुकी हैं और मैं उससे भी पहिले निश्चय कर चुका। तो अब विलम्ब किसके लिये?"

सविता कुछ न कह सकी। उसका हृदय एक आवेग से भर गया। विचारों के तूफान ने आकर उसे बाहर और अन्दर से एकाएक घेर लिया। लहरों पर थिरकती हुई जिस नाव की सुन्दर गति को दूर ही से देखकर वह मनोरंजन कर रही थी, मानो सहसा उसी नाव पर वह गिर पड़ी। क्या वह यही चाहती थी? पर अब समुद्र कितना अथाह है, अब उसके चारों ओर पानी ही पानी है। अब उसे शान्त होकर बैठना ही नहीं है; अब तो उसे आँख उठा कर सावधानी से खेना है। अब इन अथाह उत्तुङ्ग तरंगों की थपेड़ों में वह पुकार-पुकार कर भी कहे, तो उसका स्वर कौन सुन सकेगा?

डाक्टर ने कहा—"वे लोग बाहर की बैठक में हैं। कहो तो बुला लाऊँ?"

सविता कुछ न बोली। सिर हिला कर उसने स्वीकृति दे दी।

बाहर जाते हुये डाक्टर ने लौट कर वह दस्तावेज सविता के हाथ में देते हुये कहा—"इसे तब तक देख ही लीजिये।"

सविता ने उसे अपने हाथों में ले लिया। उसे वह देखती रही—भिन्न-भिन्न रंगों से लिखे उसके मूल्य को, उस पर बने हुये फूलों के चित्रों को और बादशाह की नन्ह तस्वीर को। उसमें जो कुछ लिखा था, उसको पढ़ने का उपक्रम अवश्य किया; पर कुछ भी समझ न सकी।

तीनों आदमी अन्दर आ गये। यंत्रचालित-सी वह उठी। उनके अभिवादन का उत्तर दिया। डाक्टर ने परिचय कराया—"यह मिस्टर बी० एस० सिनहा, रजिस्ट्रार हैं, और ये बाबू द्वारिका प्रसाद वकील हैं।" सविता ने दोनों को बाल-सुलभ-सरलता से अभिवादन किया, मानो नाटक के इसी दृश्य के लिये उसे यह सब कुछ सिखाया गया था।

बैठते हुये मिस्टर सिनहा ने कहा—"मुझे क्षमा कीजियेगा, कुछ जल्दी है। अगर आप लोगों ने इसे पढ़ लिया हो, तो हस्ताक्षर कर दीजिये, और तो मुंशी जी सब ठीक कर चुके हैं।"

डाक्टर ने सविता की ओर देखा, वह दस्तावेज को पढ़ रही थी। उनका हृदय धड़कने लगा। वे सविता के मुखांकित भावों को ध्यान से देखने लगे, पर उसकी बाल-सरल मुद्रा में वही लज्जाशील बालिका के से भाव थे, जिसे पहिली बार नाटक में पात्र बनना पड़ा हो। जिसकी समझ में, जो कुछ वह कर रही है, अथवा करने जा रही है, कुछ भी न आता हो।

पढ़ कर सविता ने उस पर हस्ताक्षर कर दिये।

डाक्टर ने कहा—"मैं तो पहिले ही दस्तखत कर चुका हूँ।" उन लोगों ने थोड़ी देर और बातें कीं। फिर हँसते हुये वे लोग निकले। सविता ने उस हँसी में भी योग दिया। डाक्टर उनको पहुँचाने मोटर तक गये। सविता ने भी डाक्टर का, पीछे-पीछे जाकर, अनुकरण किया, पर सब मानो स्वप्न था। चेतना-शून्य-सी वह यह सब बिना जाने समझे कर रही थी।

(३)

"सविता, मैं समझता हूँ तुम अपनी बातें कहने के लिये अधीर हो रही हो।"—डाक्टर ने कहा—"पर मुझे भी अपने बहुत से कृत्यों के लिये क्षमा माँगनी है। आज शाम का सहभोज का प्रबन्ध है और कल मैं अपनी वृद्धा माता के दर्शन करने जाऊँगा और हो सका, तो उनको भी यहीं लेता आऊँगा। यदि तुम्हें कोई असुविधा न हो, तो हम अपनी-अपनी आत्म-कहानी का कथन अगले रविवार तक स्थगित कर लें। भर्मापुर रेंज के

उस पार नैपाल के किनारे जंगल की कोठी का पास मैंने मिस्टर सिनहा से मँगा लिया है, वहीं इस रविवार को हम लोग वन-विहार के लिये चलेंगे और समय सुहावना रहा, तो छुट्टी बढ़ा लेंगे।"

सविता चुप रही, पर डाक्टर पण्डित से उसके दीर्घ उच्छ्वास का अवरोध छिपा न रहा और तुरन्त ही अपना विचार बदलते हुए डाक्टर ने कहा—"सविता तुम बड़ी उत्सुक और चिन्तित जान पड़ती हो। क्षमा करना, मैं तुम्हारी उत्सुकता की अब तक अव-हेलना ही करता रहा। तुम जब चाहो, तब मैं सुनने को तत्पर हूँ।"

दो तीन दिन से डाक्टर कभी-कभी जो 'तुम' का प्रयोग सविता के प्रति कर रहे थे, उसमें सविता को असीम आनन्द आ रहा था। माँ की मृत्यु के उपरान्त यह सम्बोधन उसने कभी भी अपने प्रति व्यवहृत होते न सुना था। अब डाक्टर के मुँह से इसे सुन कर, उसे जान पड़ता था कि अब तक वह पानी और दलदल में चलती थी, जिसमें चारों ओर पोलापन था, सब सरल और सुलभ था; किन्तु अब चलते चलते उसे कठोर शाखा मिली जिसे वह मजबूती से पकड़ कर स्थिर रह सकेगी।

मन ही मन डाक्टर के इस विचार-परिवर्तन और अपनी अधीरता पर वह खीझ-सी उठी, सोचने लगी—"ओह! मैं कैसी जल्दबाज हूँ और डाक्टर कितने दयालु हैं।" उसकी आँख हृदय के इस उफान को न सह सकीं और डबडबा आईं।

डाक्टर ने सोचा - "बड़ा निर्दय हूँ। उसके भावों की तो मैं बिल्कुल ही अपहेलना कर गया। विवाह का दिन! उसे कितना प्रसन्न होना चाहिये था। मैं बड़ा स्वार्थी हूँ। अरे! कौन-सा बड़ा समय नष्ट हो जायगा"—और तब डाक्टर ने सविता की

डबडबाई आँखों को देख कर लज्जा से मानो गड़ कर कहा—"सविता आओ, तुम अपनी कहानी कहो। मैं तैयार हूँ।" और वह मेज के पास कुर्सी पर बैठ गये।

सविता अपने को न रोक सकी, उसकी आँखों से आँसू बह निकले, कहा—"डाक्टर, आप कितने दयालु है। मैं भी यही सोचती थी। जब तक मुझे अपनी कहानी कह कर आप से क्षमा न मिलेगी, मुझे न सहभोज में ही बैठना सुखकर लगेगा और न आपके साथ गिरजा में मिलना ही। मैं आज सुबह से ही निश्चय कर चुकी थी कि आज आप के आते ही, शादी की बात पक्की होने से पहिले ही, अपनी सारी बातें आप से कह दूँगी; पर .क्योंकि.. "

अतः सविता कुछ सोच न सकी। उसने डाक्टर की मुद्रा की ओर देखा, वे मुस्करा रहे थे—शान्त चित्त से बैठे, मानो किसी बालिका की तोतली भाषा में कही कहानी को सुनने बैठे हों, जिसमें केवल हँसी हो हँसी के और कुछ सार नहीं।

सविता सोचने लगी—'क्या मेरी कहानी के समाप्त होने पर भी ये इसी प्रकार हँसते ही रहेंगे। हे देव, मुझे क्षमा करना, तुम ऐसे ही हँसते रहना।' मन ही मन उसने प्रार्थना की। यह सब व्यावहारिक जगत् में क्षणों के शतांश में ही घटित हो गया और डाक्टर को केवल यही भास हुआ कि सविता अपनी कहानी कहने में झिझक रही है, बोले—"हाँ कहो, मुझे खूब समय है। तुम पूरे विस्तार से जो कुछ कहना है, कह डालो; फिर मैं भी अपने कृत्य के लिये क्षमा मागूंगा और तुम्हें अवश्य ही मुझे क्षमा देनी होगी। मैंने तुम्हारी स्वीकृति का अनुचित उपयोग किया है; अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिये यह दस्तावेज बिना क्षमा माँगे पहिले ही लिखा लिया है—इसी आशा पर कि तुम मुझे

लगा कर दोगी; पर अरे मैं तो पहिले ही अपनी कहानी शुरू किये दे रहा हूँ। हाँ तो, पहिले आपकी बारी है।"

मेज की दराज खोल कर सविता ने कागजों के उस पुलिन्दे को सामने रक्खा और पहिले पत्र को निकाल कर खोला और मेज पर दृष्टि गड़ाये आँखें नीची किये कहना प्रारम्भ किया—

"यह पत्र आज से ठीक नौ वर्ष पहिले का है। तब मैं पन्द्रह वर्ष की थी। माँ उन दिनों बालिका-विद्यालय में पढ़ाती थीं और मैं भी उसी वर्ष हाई स्कूल की परीक्षा पास करके ग्यारहवें में पढ़ती थी। मैं हाई स्कूल में प्रथमश्रेणी में उत्तीर्ण हुई थी और सूबे भर की लड़कियों में सब से प्रथम होने के उपलक्ष्य में, कई समाचार-पत्रों में मेरा चित्र प्रकाशित हुआ था। देवकुमारी वर्मा ने, जो माँ के साथ की पढ़ी हैं, मेरे विषय में पढ़ा और बधाई का पत्र भेजा। उनका और माता जी का कानपुर में साथ रहा है और दोनों एक ही वर्ष विधवा भी हुई थीं।

"देवकुमारी वर्मा का एकलौता पुत्र विश्वेश्वर उन दिनों बी० ए० में पढ़ता था। बुढ़िया माँ को अपने पुत्र को शीघ्र विवाहित देखने की बड़ा अभिलाषा थी। उन्होंने मेरी माता जी का इस विषय में लिख भेजा और माँ फूली न समाईं। दो-तीन पत्रों के विनिमय के उपरान्त हमारा भावी रिश्ता पक्का हो गया। यद्यपि ये बातें मुझसे परामर्श लेकर नहीं हुई थीं; किन्तु मुझसे कुछ भी छिपा न रहा और धीरे-धीरे मैं सब कुछ जान गई। माता जी ने विश्वेश्वर बाबू का चित्र भी मँगवा लिया।"

सविता ने डाक्टर की ओर देखा। वे दत्तचित्त होकर सुन रहे थे मुख पर हास्य की हल्की रेखा अंकित थी। उसने फिर कहना आरम्भ किया—

"यह चित्र मुझे बहुत प्रिय तो न था, फिर भी कौतूहल-वश

अनायास ही मुझे बार-बार इसे देखने की इच्छा बनी रहती थी। एक दिन मैं इसे अपनी पुस्तकों के साथ विद्यालय भी लेती गई। गणित की कक्षा में मैंने इसे अपनी पास वाली बैंच पर बैठी लड़की शान्ता को दिखला दिया और फिर चुपके से वापिस ले लिया, पर शान्ता इससे भी न मानी। वह अपनी गणित की पुस्तक लेकर मेरे ही पास आकर बैठ गई और हम दोनों गणित की कापी के बीच उस चित्र को रख कर प्रश्न हल करने का बहाना करते और एक-एक बात लिखते जाते। शान्ता ने अपनी कापी में लिखा—

'किसका है ?'

मैंने अपनी कापी में लिखा—'वही।'

शान्ता ने लिखा—'जो कल बतला रही थी ?'

मैंने लिखा—'हाँ।'

उसने लिखा—'पसन्द है ?'

मैं कुछ लिखने ही जा रही थी कि अध्यापिका ने आकर दोनों कापियाँ उस चित्र सहित अपने अधिकार में ले लीं। हम दोनों को प्रिंसिपल के सम्मुख जाना पड़ा और माँ के कानों तक भी यह बात पहुँची और धीरे-धीरे सब लड़कियाँ जान गई कि मेरा विश्वेश्वर बाबू से विवाह होगा। और मेरा विद्यालय जाना भी बन्द हो गया।

"दिसम्बर की छुट्टियों में कानपुर से माँ बेटे आये, और दो तीन दिन तक रहे। मैं उनके आने पर मारे लज्जा के कमरे के बाहर न निकली और माँ के बहुत कहने-सुनने पर चाय पर बैठी; पर मैं उनकी ओर देख भी न सकी। परदे के पीछे से अथवा खिड़की की आड़ से कभी-कभी जिस कमरे में वे टिके थे, उसमें झाँक लेती। उनकी बातों से मुझे मालूम हुआ कि लड़के को मैं

बिल्कुल पसन्द नहीं आई। दूसरे दिन वे लोग चले गये। मैंने जो कुछ सुन पाया वह इस प्रकार था:—

माँ ने कहा—'तो बात पक्की हो गई। बहू तो मुझे पसन्द है।'

लड़के ने तुरन्त ही उत्तर दिया—'मैं शादी न करूँगा।'

'क्यों? अब तो मैं वचन दे चुकी।' माँ बोली, 'लड़की बड़ी सुशील है। इतनी बुद्धिमान और पढ़ने में इतनी तेज़ है।'

लड़के ने कुछ रुक कर धीरे से कहा, जो मेरे कानों तक नहीं पहुँचा, लेकिन जो कुछ उसने कहा, उसका अवश्य ही यह तात्पर्य था कि लड़की देखने में सुन्दर नहीं है।

माँ ने कहा—'रूप से क्या होता है, जहाँ सभी गुण हों, वहाँ रूप का कोई मूल्य नहीं। ऐसी कुरूप भी तो नहीं है।,

लड़के ने कहा—'पर सोना-सोना ही है और लोहे में चाहे सोने से अधिक उपयोगिता हो और गुण भी हो किन्तु फिर भी सोना मूल्यवान समझा जाता है—केवल रूप के लिए।'

"मैं अधिक न सुन सकी। अपमान और ग्लानि का एक घूँट-सा पीकर रह गई। मैंने तभी से प्रण कर लिया कि आजन्म अविवाहित रहूँगी।"

डाक्टर ने आँख उठा कर सविता की ओर देखा और सविता ने डाक्टर की ओर। दोनों ने इस दृष्टि विनिमय से जान लिया कि अभी कहानी का एक ही अध्याय समाप्त हुआ है। और डाक्टर को ऐसा भास हुआ कि अभी सविता के हृदय का भारी बोझ किंचित् सा हलका हुआ है। अभी सन्तोषप्रद न्यूनता नहीं आई और सविता ने मन ही मन डाक्टर को उसकी एकाग्रता पर धन्यवाद दिया। कहानी फिर आरम्भ हुई—

"माँ की बदली जब सोमेश्वर कालेज को हुई, तो मैंने फिर पढ़ाई आरम्भ की और जिस वर्ष मैंने विज्ञान की अन्तिम परीक्षा

दी, एका-एक माँ भी इस संसार से विदा हो गई। यदि मुझे रिसर्च के लिये छात्रवृत्ति न मिल जाती, तो सम्भव था, मै अब तक इस संसार में न रह पाती, क्योंकि माँ की मृत्यु के उपरान्त मुझे एका-एक ऐसा जान पड़ा, मानो मै ऐसे संसार में कूद पड़ी, जहाँ चारो ओर छल ही छल है, जहाँ अपनी दौड़-धूप में दूसरे को जानबूझ कर गिरा देना ही विजय का एकमात्र सिद्धान्त है। जहाँ अपरिचित ही परिचित से अधिक सुहृद बनने का नाट्य करते हैं।

"रिसर्च (अनुसन्धान) मे मुझे अच्छी सफलता अवश्य मिल जाती, क्योंकि आरम्भ से ही रंगो के जिस सिद्धान्त को लेकर मै आगे बढ़ी, उसे वैज्ञानिको ने सर्वप्रथम स्वीकार कर लिया, किन्तु जहाँ श्रीगणेश शुभ जान पड़ा, वहीं दूर राहु की एक छाया-सी भी सदा मुझे डराया करती और रात-दिन मुझे शंका होती रहती कि अब अनिष्ट निकटतम है।"

डाक्टर कुछ अधीरता से कुर्सी पर बैठे। उनकी मुद्रा पर सन्ध्या के मेघों पर छिटकी हुई अस्त सूर्य की रश्मियों की भाँति मुस्कराहट की अन्तिम रेखायें अभी तक अंकित थीं। गम्भीर अन्धकार का आगमन सम्भव सा जान पड़ता था। सविता ने क्षण भर रुक कर फिर डरी-सी दृष्टि से उनकी ओर देखा और कहती गई—

"मेरे लेख जब वैज्ञानिक सभा में विचारार्थ जाते, तो उनके प्रकाशित हो जाने के लिये सभा के एक मन्त्री महोदय भरसक प्रयत्न करते और प्रकाशित हो जाने पर अपने प्रयत्नों के विषय में मुझे सूचित कर देते। मैं अनधिकार प्रशंसा की इच्छुक न थी और मुझे बार-बार जब-जब मेरे लिखे लेख प्रकाशित हो जाते, तो यही बात खटकती कि मैं इस योग्य हूँ नहीं। न जाने

कब इस अनधिकार प्रशंसा का मूल्य मुझे चुकाना पड़ेगा। धीरे-धीरे आपने कृत उपकार के साथ-साथ उन मन्त्री महोदय के एक-आध वाक्य भी अब उनके पत्रों में आ जाते, किन्तु मैं सदा चुप ही रहती। मैं अपने लेखों को सीधे वैज्ञानिक सभा में भेजती। मन्त्री महोदय की सदा अवहेलना ही करती रही।

"अणु निर्माण पर किस प्रकार पदार्थों के रंग निर्भर है और अणु के क्रमशः विकसित आकार पर किस प्रकार प्रकाश की तरंगों के पड़ने से आसानी से एक रंग दूसरे में परिवर्तित हो जाता है, इसी सिद्धान्त की पुष्टि के लिए मैंने एक ऐसा द्रावण्य घोल बना लिया, जिसे किसी परमाणु पर धीरे धीरे लगाने से उसका आकार बढ़ता जाता और अणु-पुंज दृष्टिगोचर हो धीरे-धीरे नीले से हरा, पीला और अन्त में लाल होकर रंग सप्तक के सभी रंग क्रमशः धारण करता जाता। मेरा यह लेख वैज्ञानिक सभा-पत्रिका के क्रमशः तीन मासिक अंकों में प्रकाशित हुआ। प्रति मास मन्त्रीमहोदय मेरी प्रशंसा के साथ अपनी प्रेम कहानी भी वर्णन कर जाते।

"यही वे तीन लेख हैं और ये मन्त्री महोदय के पत्र हैं।" कहते हुये सविता ने एक बार फिर डाक्टर की ओर देखना चाहा। वे दीवार पर आँखें गड़ाये ऐसे देख रहे थे, मानो पारदर्शक काँच के उस पार वृहत्ताकार प्रकृति का दृश्य देख कर आश्चर्य कर रहे हों। उनकी मुद्रा गम्भीर, नथुने फूले हुये, और भौंहें सिकुड़ी हुई थीं। भयभीत-सी हो सविता ने कहा—"मैं अब संक्षेप में सब कुछ कह डालूंगी।" और तब डाक्टर ने एक उच्छ्वास का असफल अवरोध करते हुये कुर्सी पर जम कर बैठने का प्रयत्न किया।

सविता ने मन ही मन प्रार्थना की—'डाक्टर तुम कितने

महान् हो, कितने उदार हो, क्या मुझे क्षमा न करोगे। हे देव! मुझे बल दो, मैं सब कह जाऊँ और फिर यदि तुमने क्षमा न किया, तो इसी आत्म-निवेदन के बहाने मैं प्राण भी दे डालूँ।'

"बहुत सोचने के उपरान्त"—सविता कहने लगी—"मैं इस निष्कर्ष पर पहुँची कि मन्त्री महोदय मेरी इतनी सहायता करते हैं, इतनी उत्सुकता से मेरी उन्नति की प्रतीक्षा करते हैं। इस संसार में जहाँ मेरा अपना कोई नहीं, एक ऐसे सहायक को भी क्या दुतकार देने का दुस्साहस करना उपयुक्त है। धन्यवाद का एक पत्र यदि भेज ही दिया, तो कौन सा अनर्थ हो जायगा।

"मैंने लिखा—आपकी सहायता के लिये बहुत धन्यवाद। मेरा परिचय प्राप्त करने की जितनी आपकी अभिलाषा है, मैं उस योग्य नहीं हूँ। मेरे विषय में केवल इतना ही है कि मैं एक असहाय बालिका हूँ। अनाविष्कृत द्वीप पर आ-पड़ने वाले एकाकी पक्षी की भाँति मेरा मार्ग निश्चित है, वैज्ञानिक भाषा में—अथाह ज्ञान सागर के चतुर्दिक् विस्तार पर साश्चर्य दृष्टि दौड़ाकर बहते हुए अश्रुकणों पर निर्भर रहना। इसी में मुझे सन्तोष है और शान्ति है।

"मैंने बहुत सोच-विचार के उपरान्त दो-तीन बार के प्रयास के बाद इस पत्र को लिखा ताकि मंत्री महोदय को मेरी ओर से, इस शुष्क पत्र के पा जाने से निराश होना पड़े और मैं वैज्ञानिक संसार में अपना वास्तविक स्थान तो जान सकूँ। पर इस पत्र का बिल्कुल ही विपरीत प्रभाव उन पर पड़ा। मेरा प्रत्युत्तर ही उनकी मानसिक प्रतिक्रिया के लिये एक उपयुक्त साधन बन गया और अब की बार जो उनका पत्र आया, वह केवल प्रेम के उद्गारों का उपन्यास ही था। वह यही पत्र है।" कह कर सविता ने उसे डाक्टर के

सम्मुख खोल कर रख दिया। उसकी आवाज अब काँपने-सी लगी; शब्दों में फटे हुए बाँस की बाँसुरी के स्वर की थिरकन और अस्थिरता आ गई। उसने डाक्टर की ओर नहीं देखा और कहती गई—'मैंने इस पत्र को एक बार दो बार पढ़ा और फिर कई बार पढ़ा। कई दिनों तक मैं इसे पढ़ती रही और सोचती रही कि उस छोटी-सी अपरिपक्व आयु के ऊपर जो घटना घटी थी, उसी के आधार पर अविवाहित जीवन की नींव डालना कितना उपहास है। शायद ईश्वर ने एक ऐसे सुअवसर की रचना मेरे लिये कर रक्खी थी, इसलिए तब वह घटना घटित हुई थी। और अब जो कुछ हो रहा है, उसे विधाता ही तो कर रहा है। मेरा हाथ उसमें कहाँ है। और इसीलिये मैंने रमेशचन्द्र को, यही उनका नाम था, अपने विषय में सब कुछ लिख डाला। पर मैं लिख कर पत्र डाल चुकी, तो मुझे अपनी भूल ज्ञात हुई कि कितनी शीघ्रता से मैं उन पर विश्वास कर गई। शायद वे भी रूप के उपासक हों और मैं हूँ कुरूप। सोने की आशा किये शायद वे भी बैठे हों और लोहा पाकर निराश हो जायँ। मैंने एक और पत्र उनको लिखा, जिसमें मैंने कानपुर वाली घटना का पूरा वर्णन करते हुए, उनको बतला दिया कि एक कुरूप बालिका में जिन दुर्गुणों की आशा हो, वही मुझ में है।

"जिस दिन मैं आशा करती थी कि मेरा पत्र उनको मिलेगा, उसी दिन मुझे उनका पत्र मिला। और और बातों के साथ-साथ लिखा था—"यदि आपका पत्र आज न मिल गया होता, तो न जाने क्या दशा होती। मुझे तो उन्माद सा हो गया है। रात-दिन आप ही के विषय में सोचता हूँ। मैं नहीं समझता कि इससे पूर्व कभी प्रेम का प्रादुर्भाव पत्र-व्यवहार से ही हुआ हो। ऐसी प्रेम की सृष्टि का उदाहरण शायद ही हो जो कि पत्रों से वृद्धि

पाकर इस सीमा तक पहुँच गया हो; किन्तु यदि ऐसे उदाहरण का वास्तव में अभाव है, तो इसका यही कारण है कि सहानुभूति की ग्रंथि दो हृदयों में इतनी विकट कभी न हुई होगी। विधाता ने हमारे ही दो हृदयों की ऐसी रचना की थी, जिनके सम्मिलन में ही पत्र व्यवहार 'कैटेलेटिक एजेण्ट*' का कार्य कर सकता था।

"और लिखा था—मैं, जिस दिन यह पत्र आप के पास पहुँचेगा, उसी दिन शाम को आपके पास आ जाऊँगा।"

सविता ने देखा, डाक्टर ने कुहनी मेज पर टेक दी और सारे सिर का भार हथेली पर देकर, एक दीर्घ निःश्वास छोड़ी। मेज पर पड़े हुये कुछ ही मिनट पूर्व लिखे उस स्टाम्प को देख कर सविता सिहर उठी। सोचने लगी—'कैसा उपहास है। अभी इतनी आशायें लेकर डाक्टर ने जिस संसार की रचना की थी, उसी का इतना शीघ्र यह विनाश। अभी उठ कर वे इसे फाड़ देंगे। फिर इन पत्रों को समेट कर कल ही सारे संसार के सम्मुख मेरी कहानी प्रकाशित कर दी जायगी। हे देव! कहानी सुन लो फिर चाहे, मुझे क्षमा करो या दण्ड दो।'

"उस दिन जब मैं उनसे मिलने को स्टेशन जाने की तैयारी करने लगी, तो मुझे अपना वह पत्र मिला।"—सविता कहने लगी। घबड़ाये हुये व्याख्याता की भाँति उसके स्वर में कम्पन और बनावटी जोर था—"जिसमें मैंने अपने कुरूप होने का पूरा विवरण दिया था, जो नौकर की गलती से अब तक भेजा न जा सका था! मैं सोचती थी, शायद उस पत्र के मिलने से उनका उत्साह कम हो जाय और वे न आयें। पर दुर्भाग्य से यह पत्र उनको भेजा न जा सका।

* दो पदार्थों के रासायनिक सम्मिलन में सहायता और स्फूर्ति देने वाला तीसरा पदार्थ जो स्वयं निर्विकार रहता है।

"पर उसी दिन एक और घटना हुई। वैज्ञानिक-समाचारपत्रिका के नये अङ्क में मैंने उनकी एक टिप्पणी पढ़ी, जो मेरे सिद्धान्तों पर की गई थी। उन्होंने लिखा था—'मिस सविता ने जिस वायव्य घोल का आविष्कार किया है, उसका अनुसन्धान अभी अपरिपक्व दशा में है, किन्तु इससे आशा की जाती है कि संसार से रङ्ग-भेद उठ जायगा। काली, पीली, लाल और भूरी मानव जातियाँ सब एक हो सकेंगी, क्योंकि किसी समतल सतह पर इस घोल की हलकी परत चढ़ा देने से, अणु के आकार में जो वृद्धि हो जायगी, उसी के अनुसार उस सतह पर रङ्ग परिवर्तन हो जायगा। इस प्रकार अपनी इच्छानुसार जैसे हम प्रतिदिन अपने शरीर के वस्त्रों के रंगों का निर्वाचन करते हैं, वैसे अपने चेहरे को अपनी इच्छानुसार काला, पीला, हरा, लाल जैसा चाहेंगे बना लेंगे। तब गोरी जातियों का मिथ्याभिमान जाता रहेगा और सचमुच विश्वशान्ति के लिये यह विज्ञान की एक बड़ी देन होगी।' मुझे इस लेख को देख कर बड़ी आशा हुई। अब मुझे जिस बात की शंका थी वह बिल्कुल नहीं रही। सोचा—मैं कैसी कृतघ्न हूँ, एक ऐसे महान् व्यक्ति के लिये ऐसी दुर्भावना रखती थी। बड़े पुरुषों की बात ही और है। उनके विचार ही और हैं। वे शान्त वातावरण में इस संसार की धूमिल-धूमिल अन्धेरी संकीर्ण गलियों से कहीं उस पार दूसरे ही संसार में विचरते हैं।"

"पर इन्हीं मिश्र विचारों में उनसे मिलने जब स्टेशन पर गई, तो मेरी आँखों से परदा हट गया। मुझे आयी देख कर उनको आश्चर्य हुआ। कहा—'आप ही सविता हैं' और फिर कलकत्ते जाने का बहाना किया। कहा—'मुझे समय नहीं है, मैं यहाँ उतर नहीं सकता। सीधे कलकत्ते जा रहा हूँ।' मुझमें

उनके मन की बात छिपी न रही। मैं लौट आई और देखा, उनका नौकर उनके उतरे हुये सामान को आश्चर्य से फिर गाड़ी पर चढ़ा रहा है। वह दिन है, मैंने न उनके विषय में जानने का प्रयत्न किया और न उन्होंने ही कुछ पूछ-ताछ की, पर इस घटना से मेरा जी बिल्कुल ही बदल गया। मुझे रिसर्च से घृणा हो गई और बड़ी मानसिक वेदना के उपरान्त मैंने केवल जीविकोपार्जन के लिये यह शिक्षण का कार्य ग्रहण किया। और उस रमेशचन्द्र की कृपा है कि मैं आज. ..

सविता ने देखा, डाक्टर दोनों हाथों से सिर पकड़ कर उठ खड़े हुए; उनका मुख विकृत, आँखें लाल और ओठ फड़क रहे थे।

"ओफ ओफ" कहते हुए उन्होंने उस मेज पर पड़े हुए दस्तावेज को झपट कर उठा लिया। सविता ने देखा, चारों ओर, मेज पर, आलमारी पर, फर्श पर, कुर्सियों पर, दीवारों पर और उससे बाहर चारों ओर अन्धकार की एक छाया-सी पड़ गई और उसे ऐसा भास हुआ कि डाक्टर दूसरे ही क्षण उस कागज को फाड़ कर टुकड़े-टुकड़े कर देंगे।

पर एक दीन बालक की भाँति डाक्टर ने फटे-फटे से स्वर में कहा—"क्षमा करना सविता, मुझे क्षमा करना। तुमने इस दस्तावेज को नहीं पढ़ा। ओह! मैं कैसा निर्दय हूँ; मैं कैसा पापी हूँ। रमेशचन्द्र मैं ही तो हूँ।"

सविता ने क्षणिक अविश्वास से डाक्टर की ओर देखा और वह धम से कुर्सी पर गिर गई। उसने आँखें मूद लीं और दूसरे ही क्षण वह डाक्टर के पैरों पर गिर पड़ी। कहने लगी—

"मुझे क्षमा करो देव! मुझे क्षमा करो। आपने मुझसे अब तक क्यों छिपाया? मुझे क्षमा करो।"

डाक्टर ने तुरन्त ही उसे अपने हाथों में उठा लिया और कहा—"नहीं सविता, तुम मुझे क्षमा करो। मैंने तुम्हारे साथ एक नहीं अनेक छल किए। मैंने ही तुम्हारे आविष्कारों पर आगे बढ़ कर विदेश में जाकर डाक्टरी की उपाधि पाई। तुम्हारी प्रतिभा का नाश करके अपनी ख्याति का बीजारोपण किया। क्या इन सब अपराधों के लिये मुझे क्षमा करके अपने हृदय में स्थान न दोगी? मैंने बहुत ही अन्याय किया; पर क्या अब भी तुम मुझे अविश्वास की दृष्टि से देखोगी? क्या मुझे प्रायश्चित्त का अवसर न दोगी।"

❀ ❀ ❀

धीरे धीरे सविता को ज्ञात हुआ कि किस प्रकार डाक्टर विदेश में उसके लिये चिन्तित रहते थे। उसे डाक्टर की उन दिनों की एक डायरी भी मिल गई और जान पड़ा कि वैज्ञानिक अनुसन्धानों के साथ-साथ किस प्रकार नित्य अपने उस एकमात्र कृत्य के प्रायश्चित्त के लिए वे भगवान् से प्रार्थना करते थे। और उनकी इस उपासना को देख कर ही वहाँ के अन्य भारतीय वैज्ञानिकों ने उन्हें पण्डित की उपाधि दे दी थी और उसी से वे डाक्टर पण्डित कहलाये जाने लगे।

१३

विवाह के उपरान्त

बड़े बाबू ने केदारनाथ को पास बुलाकर एक कागज पढ़ने के लिये दिया। पढ़कर वह मुस्कराया और कमरे में बैठे हुए क्लर्कों की ओर संकेत करके बोला—"आज श्रीवास्तव बाबू से मिठाई वसूल की जाय।"

बड़े बाबू ने बाँह पकड़कर उसे खींच लिया और गम्भीरता से कहा—"पागल मत बनो, कैसे चिल्ला रहे हो, जरा धीरे से बोलो।"

आर्म्स-क्लर्क ने गरदन उठा कर उस ओर देखा और फिर कमिश्नर के नोट की जरा चाल्दी फाइल पर झुककर कहा—"क्या बात है भाई, क्या बात है? क्या खजाने की हेड क्लर्की का 'चान्स' आ गया हाथ?"

बिल-क्लर्क ने अपनी लाल कलम जल्दी से कान में खोंस कर लड़कियों की-सी पतली आवाज में कहा—'अरे क्यों, कट गया क्या खूँसट का पत्ता, कहाँ को हुआ तबादला?" और भरों के तमाम बादामी बिलों को वैसे ही मेज पर बिखरे छोड़कर वह भी बड़े बाबू के पास के उस कागज को देखने की जिज्ञासा को न रोक सका। देखकर एक ठण्डी साँस ली और बोला—"अच्छा हुआ भाई, अब दो महीने तो चैन से कटेंगे।"

"अच्छा, ले ली छुट्टी क्या वर्मा जी ने ?" कह कर क्लर्क ने बजट की वह मिसल हटाकर एक ओर रख दी और वह भी बड़े बाबू के सन्निकट पहुँच गया। वहाँ पर अच्छा खा जमाव देख कर फ़ार्म कीपर बाबू भी आ गये। उन्हें कान से कम सुनाई देता है, इसलिए अब तक इस ओर उनका ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ था।

मिस्टर वर्मा, डिप्टी कलेक्टर तीन दिन की आकस्मिक छुट्टी लेकर घर गये थे, और अपने विवाह के सिलसिले में उन्होंने दो मास की रियायती छुट्टी का आवेदन-पत्र भेज दिया था। यह वही आवेदन पत्र था, जिसे देखकर कचहरी के बाबू लोग आज हर्ष मना रहे थे। जब से इस जिले में वर्मा साहब की नियुक्ति हुई—न कभी उन्होंने स्वयं छुट्टी ली और न अपने मातहतों को लेने दी। जिले के डिप्टी कलेक्टरों में वे सबसे अधिक तेज और कठोर शासक थे। सारा दफ्तर उनसे काँपता था। बाबू लोगों में से कोई दो मिनट देर में आकर यह नहीं कह सकता था कि 'साहब, क्षमा कीजिए' लड़के को निमोनिया हो गया था। कचहरी आते समय डाक्टर बनर्जी को दिखलाने ले आया था। बड़ी भीड़ थी साहब, वहाँ पर, कठिनाई से दिखला पाया। कान पकड़ता हूँ, अब आज से 'कभी' देर न होगी, हुजूर।"

गम्भीर निर्विकार मुद्रा कहती—"अपना जवाब लिखकर लाओ।" निस्तेज कोटरों में धँसी हुई कचहरी के बाबू की आँखें डबडबा आतीं। लड़खड़ाते शब्दों में वह कहता—"आज क्षमा कर दें हुजूर, अब अगर फिर कभी लेट हुआ... ."

कठोर होकर अँगरेजी में गम्भीर निर्विकार मुद्रा कहती—"आप जनाब, अपना जवाब लिखकर लायें। मेरे पास इतना समय नहीं है। अदालत का बहुमूल्य समय आप मेहरबानी

करके नष्ट न करें।" मन्थर गति से लौटते हुए बाबू किवाड़ की ओट में बाँह से आँखें सुखाकर अपनी चिर-संगिनी कुर्सी पर आकर अपना जवाब लिखने लग जाता।

और वर्मा साहब की मातहती में साल-ब-साल एकत्रित होने पर भी न मिल सकनेवाली अपनी छुट्टी के लिए भी कोई प्रार्थना-पत्र न भेज सकता। वृद्ध एक्साइज क्लर्क श्रीवास्तव ने कुछ ही दिन पहले दो माह की छुट्टी के लिये एक प्रार्थना-पत्र भेजा था, और बड़े बाबू की सिफारिश लिखा कर स्वयं ही वर्मा जी के सामने उसे पेश किया था, और कहा था—'साहब, लड़की सयानी हो गई है। जरा इधर-उधर घूम कर ढूँढ़-खोज न करूँगा, तो कहीं उसका ठीक-ठिकाना न लगा सकूँगा। छुट्टी मेरी बहुत ज्यादा है, हुजूर! बीस वर्ष की नौकरी में शायद तीन या चार सप्ताह की छुट्टी अब तक मैंने ली होगी। अब की साल दो मास की दे दी जाय, तो बड़ा अनुगृहीत रहूँगा।"

सारी प्रार्थना का उत्तर गम्भीर निर्विकार मुद्रा ने दिया—"सरकारी काम मुख्य है, और सब उसके सम्मुख अनावश्यक है। और छुट्टी पर कोई आपका अधिकार नहीं, वह तो सरकार की आप लोगों पर एक कृपा है कि समय पड़ने पर, काम पर न आने पर भी आप तनख्वाह पा सकते हैं। पर आपके लड़की लड़कों की शादी का तो सरकार ने जिम्मा नहीं ले रक्खा है। जाइये, छुट्टी ऐसे समय में जब साल आखिर है और काम बढ़ने की आशंका है, भला आपको मिल कैसे सकती है ?"

ओजहीन, शुष्क और नीरस चेहरा लिये श्रीवास्तव बाबू लौट आये थे। दफ्तर में आकर उन्होंने अब अक्षरशः वर्माजी की यह वक्तृता साथियों को सुनाई, तो बड़े बाबू ने कहा—"मैं तो कहता ही था भाई, न जाओ उनके पास। यह काम होने का नहीं।"

रुँधे हुये कण्ठ से वृद्ध क्लार्क ने कहा—"घिसते-घिसते बड़े बाबू, मुझे बीस साल हो गये हैं। जितने भी अँगरेज अफसर आये, काम से सदा बड़े प्रसन्न रहे। जब जो चाहा, सो मिल जाता था। जो चाहता करवा लेता था, कानों-कान किसी को खबर तक न होती थी। अब यह हाल है कि छुट्टी बकाया है और मिलती नहीं। अब भाई, नौकरी करना बेकार है।"

"बेकार क्यों नहीं भाई," जनरल क्लार्क ने कहा—"एक कुली की मजदूरी अब डेढ़ रुपया रोज निश्चित हुई है। महीने में हुए पैंतालिस रुपये। और कचहरी के बाबू का जो ऐण्ट्रेंस पास होता है, अठारह रुपये मासिक से 'स्टार्ट' होता है। हद हो गई! कुली की हैसियत अच्छी है हम लोगों से।"

"रूस अगर जीत गया," आम्स-क्लर्क ने कहा—"तो बस, मजदूरों और कुलियों का ही तो राज्य होगा। यह उसी के चिह्न हैं।"

इस बात पर किसी ने ध्यान न दिया। श्रीवास्तव बाबू कहने लगे—"मजदूरी भी अब हम लोगों से कहाँ होगी। कलम घिसते-घिसते हमारे हाँथ शिथिल हो गये हैं। मेज पर झुके रहने से कन्धे टेढ़े और कुरूप हो गये हैं। अब तो सिवाय कलम और पेन्सिल के सब चीजें भारी लगती हैं, नहीं तो कुलियों में ही नाम लिखा लेते।"

बड़े बाबू ने कहा था—"हम लोगों की गिनती मनुष्यों में है कहाँ? और फिर वर्माजी जैसे साहब तो छूत मानते हैं हमलोगों से।"

"जो भी हो बाबूजी, अब तो हद हो गई।" श्रीवास्तव ने कहा—"यही हाल रहा, तो जीना कठिन हो जायगा! सभी इन बर्माजी से निठल्ले तो हैं नहीं। हम लोगों के तो बाल-बच्चे हैं, दुःख-सुख, शादी-ब्याह आदि भी लगे रहते हैं।"

"अरे भाई, तुम क्यों अपनी अर्जी की पैरवी करने गये थे खुद ?" बड़े बाबू ने कहा—"तुमसे बात करने में उनकी तौहीनी नहीं होती थी क्या? और तुम्हारी बात मान लेते, तो फिर बड़प्पन रह कहाँ जाता ?"

तभी दफ्तरी ने जल्दी से रोल पटका और आँख से संकेत किया था। मिस्टर वर्मा लंच के लिये जा रहे थे। बड़े बाबू ने अपनी मोटी ऐनक ठीक नाक पर चढ़ा ली और सामने पड़े कागजों को उलटने-पलटने लगे। और भी बाबू लोग किराये की गाड़ी में जुते हुये निस्तेज बैलों की-सी मुद्रा किये कलमें घिस-घिस कर कमरे भर में झींगुरों की-सी मन्द-मन्द 'सुरं-सर-सुरं' करने लग गए।

मिस्टर वर्मा सटपटाती हुई तीव्र गति से आये। सबको देखते हुये भी, किसीको न देखने का उपक्रम-सा करते हुये दफ्तर की बड़ी-बड़ी मेजों के बीच-बीच अभिवादन के हेतु खड़े होनेवाले बाबुओं की स्थिति की पूर्णतया अवहेलना करते हुये अपनी बहुमूल्य, अच्छी प्रकार धुली और लोहे से दबाकर चम-चमाती हुई पोशाक को, मानो इस गर्द से भरे मार्ग से बचाते हुए, दफ्तर से बाहर निकल गये। दफ्तर के बाबू, अन्य मातहत और साधारण मनुष्य' उनके लिए एक भिन्न ही जीव थे। यह उनका आज या कल का विचार न था; स्कूल और कालेज के दिनों में उनके साथ नौकर किताबें लेकर पीछे-पीछे चलता था। वे स्वयं अपनी बढ़िया पोशाक, सुन्दर शरीर और विलक्षण स्मरणशक्ति के प्रताप से अध्यापकों की आँखों में और सब विद्या-र्थियों में यों ही सर्वोपरि समझे जाते थे। साधारण लड़कों के पास न उन्हें किसी प्रश्न की कठिनाई सुलझाने जाना पड़ता था, और न किसी पाठ्य पुस्तक की 'टिप्पणी' अथवा 'कुञ्जी' ही की

याचना करनी पड़ती थी। विश्वविद्यालय के दिनों में मोटर में बैठकर पिता कचहरी जाते, तो रास्ते कालेज के पास उन्हें भी उतार देते और कचहरी से लौटते समय साथ ही ले भी आते। साधारण मनुष्यों से उनका सम्बन्ध हुआ, तो पहले बैरा, खान-सामा, चौकीदार या कहार के रूप में, और अब दफ्तर के बाबुओं, मातहतों और अभियुक्तों के रूप में—जिनसे बिना आत्म-सम्मान का गम्भीर नकाब पहिने वे न बोलते और न कुछ स्वयं कहते। लोगों से सिवा सरकारी सम्बन्ध के अन्य किसी प्रकार का सम्बन्ध वे स्वीकार न करते थे। उनकी सारी बातों का, अगर वे बात करने की कृपा किसी पर करते, उद्देश्य सरकारी काम होता था और सरकारी काम ही सब कामों में एक काम था। बातें भी सरकारी होती थीं। सरकारी शासन का भाव चेहरे पर सदा अंकित रहता था। एक आदर्श शासक और न्यायाधीश बनने की आकांक्षा यों भी सर्वसाधारण के स्पर्श से उन्हें दुर्भेद्य-सा बना देती थी।

हाँ, तो बस रोज वर्माजी की छुट्टी की दरख्वास्त आने पर श्रीवास्तव बाबू से मिठाई तो वसूल न हुई; पर उन्होंने डेढ़ साल की छुट्टी का आवेदन-पत्र स्वयं भी दे दिया, जिसे नये स्थानापन्न डिप्टी साहब ने स्वीकार भी कर लिया।

× × ×

ठीक दो मास के उपरान्त एक दिन सपत्नीक वर्माजी स्टेशन पर उतरे। जिले के अफसर और दफ्तर के बाबू लोग स्वागत के लिए स्टेशन पर उपस्थित थे। सब बाबू लोगों ने हाथ जोड़ कर उनका अभिवादन किया। मुन्सिफ साहब और स्थानापन्न डिप्टी साहब से हाथ मिलाकर संक्षिप्त अँगरेजी वाक्यों में उनके बधाई का उत्तर देते हुए मिस्टर वर्मा मोटर की ओर लपके औ

तब बड़े बाबू की ओर दृष्टि फेंकते हुए उन्होंने कहा—"आप लोगों ने व्यर्थ कष्ट किया।"

"नहीं सरकार, ये तो हुजूर, ये तो . "बड़े बाबू ने कहा, किन्तु तब तक मोटर का दरवाजा फट से बन्द हो गया, और मोटर की घरघराहट में वे और आगे क्या-क्या कह गये, कुछ भी सुनने में नहीं आया।

तभी मिसेज वर्मा को याद आया कि दोनों नौकर नये हैं, वे बँगले का कुछ पता नहीं जानते, उनके लिए रुक जाना ठीक होगा। मोटर रोक दी गई। झटपट उतर कर साहब ने अँगुली से इशारा करके बड़े बाबू को बुलाया।

"देखो, क्या चपरासी आया है हमारा ?" साहब ने पूछा।

"जी हुजूर, नहीं तो नहीं तो "हाँफते हुए बड़े बाबू ने कहा। इतनी दूर पैदल दौड़कर आने में उनकी साँस फूल गई थी, और तब स्वस्थ होकर वे बोले—"हुजूर इधर तो नहीं दिखलाई देता, शायद डाकखाने गया होगा। डाक का वक्त है यह, नहीं तो जरूर ही आता। तो यही "

तभी साहब उस समय इस वृद्ध पुरुष की पगड़ी के भी उस पार स्टेशन की ओर देख रहे थे, मानो इस वृद्ध पारदर्शक सिर के अन्दर उठनेवाली, चपरासी की अनुपस्थिति की इस तत्क्षण रची हुई कैफियत का साक्षात् प्रादुर्भाव देख रहे हों। बड़े बाबू अपनी बातों पर साहब को अनाकृष्ट से देखकर कुछ सहम से गये। तब तक साहब ने एक और पतले-दुबले बाबू को निकट आते देखकर कहा—"देखो, बड़े बाबू नाजिर से कहो कि हमारे नौकरों को बँगले का ठीक-ठीक रास्ता समझा दें। समझे ?"

नाजिर से साहब स्वयं नहीं बोले। वे छोटे बाबुओं से सीधे बात नहीं करते। उनके सम्बन्ध की सब बातें बड़े बाबू के ही द्वारा

होनी अनिवार्य है। यही दफ्तर का अनुशासन बतलाता है।

नाजिर ने कहा—"हुजूर, मैं ठीक-ठीक बतला दूँगा।"

साहब ने सुन लिया, पर उत्तर न दिया। फिर मोटर पर सवार होने के लिए वे जब बढ़े, तो देखा, पत्नी दूसरी ओर से नाजिर को पास बुलाकर एक कागज उसकी ओर बढ़ा रही है।

आत्म ग्लानि से साहब गड़-से गये। पर शीघ्र ही सुस्थिर हो, उन्होंने अपनी गम्भीरता का आवरण फिर सरलता से अपनी मुद्रा पर ग्रहण कर लिया और पूछा—"यह क्या चीज है ?"

पत्नी अंगुली से कुछ पढ़कर नाजिर को समझा रही थी। शीघ्र ही उस कागज को नाजिर को देकर मृदु-मृदु हँसते हुये उसने कहा—"नाजिरजी को मैंने सामान की सूची दे दी। गाड़ी में बैठ कर मैंने, कहीं भूल न जाऊँ, यही सोच कर सब सामान की एक पूरी फेहरिस्त सी बना ली। यही उनको दे दी है, देख कर ले आयेंगे।"

यह कहते-कहते उसने अपने पति के गम्भीर चेहरे की ओर देखा और उसे यह समझते पल भर की देर न लगी कि पति इस बात से यद्यपि प्रसन्न नहीं हुए; पर यह भी समझना ठीक नहीं कि वे अप्रसन्न न हुए हों। पति से इस विषय में कुछ सुनने की इच्छा उसकी हुई। वे अभी कुछ कहेंगे, कोई शिक्षा-सी देंगे, यही विचार बार-बार उसके मस्तिष्क में आ रहा था। पर वर्मा साहब कुछ भी न बोले। मोटर चलती रही और गम्भीर मुद्रा पर श्वास-प्रश्वास की क्रिया के चिन्हों के और कुछ भी दृष्टिगोचर न हुआ।

रेल में भी एक ऐसी ही गलती उससे हो गई थी। सेकेण्ड क्लास के डिब्बे में जिस 'बर्थ' पर वर्मा साहब और उनकी पत्नी

बैठी थीं, उसके सामने की 'बर्थ' पर एक गोरा पड़ा पड़ा सो रहा था। पर कभी-कभी गाड़ी की चाल के मन्द या तीव्र हो आने पर, आँखों पर रक्खे हुए अखबार को हटाकर वह एक बार इधर-उधर देख कर फिर सोने का उपक्रम-सा करने लग जाता था। एक बार हवा के तेज झोंके से अखबार उड़ कर इधर वाली 'बर्थ' के नीचे आ गया। वर्मा साहब की पत्नी ने चट उसे उठा कर उस गोरे की ओर बढ़ा दिया।

"धन्यवाद!" कह कर सोते-सोते गोरे ने उससे मुँह ढाँप कर अँगरेजी में हवा को धिक्कारते हुए कहा—"अब मैं सोचता हूँ, इस पंखे के चलने की तो आवश्यकता है नहीं।"

तब मिसेज वर्मा ने बिजली के उस पंखे का स्विच दबा दिया था।

दो-तीन स्टेशन आने पर उन दोनों को एक मूखा अभिवादन-सा करके वह गोरा, जब उतर गया, तो वर्मा साहब ने पत्नी के समीप आकर कहा— "अखबार उठा कर तुमने उसे बिना पूछे दे दिया और उसके कहने पर स्विच दबा कर पंखा भी बन्द कर दिया, यह काम अच्छा नहीं हुआ।" और तब नत-मस्तक अपराधिनी की-सी मुद्रा लटकाये पत्नी की ठुड्डी उठा कर फिर अपने स्वर को यथासाध्य कोमल बनाते हुए कहा— "उसके कहने पर भी यह काम न करना था। तुम उसकी दासी या नौकरानी तो न थीं।"

पत्नी उनके इन शब्दों को सुनकर स्तब्ध रह गई। डरी हुई हरिणी की भाँति एक बार छलछलाती आँखों से उसने पति के चेहरे की ओर देखा और फिर आँखें नीची करके रो दी।

मिस्टर वर्मा हत-बुद्धि से इस अकारण रुलाई का प्रयोजन न समझ सके; लेकिन यह भान होने में उन्हें देर न लगी कि

जो कुछ कहा गया था, वह इस कोमल हृदय को दुखाने के लिए कम कठोर न था। अपनी टूटी हुई बात का सिलसिला जोड़ते हुए फिर उन्होंने आरम्भ किया—"मेरा यह किंचित् भी लक्ष्य न था कि तुम्हें कुछ अपमानित करूँ। जल्दी में न जाने मैं कौन-सा शब्द तुमको कह गया, लेकिन मेरा अर्थ केवल यही था कि आत्मसम्मान भी तो कुछ होना चाहिये। तुम क्या यह नहीं सोचतीं कि एक डिप्टी कलेक्टर की पत्नी इस प्रकार अकारण किसी अपरिचित के कहने से ही उसकी बातों पर ध्यान भी देगी?"

सिसकियों के अन्दर पत्नी के उमड़ते हुए चक्षुओं के उस पार उस सुन्दर मस्तिष्क के अन्दर जो कुछ वर्मा साहब अब एक रौ में कह गये थे, वह प्रविष्ट हुआ कि नहीं, यह तो वे जान न सके, पर पत्नी ने दोनों हाथ जोड़ते हुए मूक याचना की और सिर हिलाकर यही बोध कराना चाहा कि अब इस असह्य विषय को आगे न बढ़ाइये। यह बात ओठों से बाहर निकलने न पाई। पर इन दो हृदयों से अवश्य ही व्यक्त हो गया कि एक ने भारी अपराध किया, और दूसरे ने उसकी हार्दिक क्षमा-याचना को ग्रहण कर लिया।

पत्नी के दोनों हाथों को हाथ में लेकर हृदय के समीप लाकर वर्मा ने तुरन्त ही कहा—"तो तुमने बुरा तो नहीं माना, तारा?"

पति के मुँह से अपने नाम को सुनकर अब पत्नी ने अपनी आँखों को उठा कर उस ओर देखा और कहा—"आपने मुझे क्षमा कर दिया न!"

और इतने में ही क्रोध और ईर्ष्या का वह क्षणिक बादल आकर टल भी गया। रेल के उस सुनसान डिब्बे में फिर नव-प्रस्फुटित प्रेम का मधुर आभास छा गया।

अब नाज़िर को सामान की वह सूची देकर तारा जो गलती कर बैठी, उसके लिए वह बार-बार यही प्रार्थना करने लगी—'देख, कहते क्यों नहीं, मुझसे फिर वही भारी भूल हो गई। तुम अपना क्रोध मुझ पर प्रकट क्यों नहीं करते ? क्यों उसे मन ही मन पिये जा रहे हो ? अब कहो न, अब कहा।'

पर मोटर की घर्र-घर्र और भोंपू की पों-पों के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं सुनाई देता। गम्भीर निर्विकार मुद्रा का निश्चेष्ट प्रतिबिम्ब सामने लगे मोटर के मोटे आइने में भी उसे बड़ा भयंकर-सा दिखलाई दे रहा था।

कुछ देर मन ही मन 'अब कैसे और क्या कहूँ' इस बात की एक-दो बार पुनरावृत्ति-सी करते हुए पत्नी ने कहा—"हमारे घर में तो ऐसे छोटे-मोटे काम सब ही नाज़िरजी करते हैं। पिताजी सदा यही करते हैं कि वे छोटी-सी चीज़ से लेकर बड़ी चीज़ तक घर में सब नाज़िरजी के ही द्वारा मँगाते हैं।"

इतना कह कर उसने अपने पति की ओर न देख कर, फिर उसी मोटे से मोटर के काँच में देखा। वे उसकी बात सुनने का प्रयत्न कर रहे थे। उसने फिर मन ही मन कहा—'कहिये न कब तक चुप रहियेगा ?'

"हाँ।" पति ने कहा—"पर तुम्हारे पिताजी पुराने ज़माने के डिप्टी साहब हैं। उस समय की बातें अब लागू नहीं हो सकतीं। हम वैसा नहीं कर सकते।" फिर एकाएक उन्हें आगे बैठे हुए ड्राइवर का ध्यान आया। सोचा—'वह सुन रहा होगा।' पत्नी का उसकी ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए फिर अँगरेजी में कहा—'ये बातें 'इस' की उपस्थिति में यहाँ पर नहीं कही जा सकतीं। घर जा कर मैं तुमको यह बात अच्छी प्रकार समझाऊँगा।"

× × ×

लंच के बाद मिस्टर वर्मा इजलास पर बैठे, तो अपने सह-योगी डिप्टी कलेक्टर मिस्टर चिन्तामणि की इस बात पर कि तुम विवाह के बाद बिलकुल बदल गये हो, मन ही मन मुस्करा रहे थे। बात कुछ भी न थी। फिर भी बार-बार इस आशंका को उलट-पलट कर मिस्टर वर्मा सोच रहे थे कि विवाह के पूर्व जैसा मेरा जीवन था, वैसा ही तो अब भी है। उसमें कहीं भी तो जरा भी परिवर्त्तन नहीं हुआ। जैसा मैं तब था, वैसा आज भी हूँ।

विवाह जैसी जीवन की महत्त्वपूर्ण घटना के बाद मिस्टर वर्मा ने ऐसे अभूतपूर्व परिवर्त्तनों की आशा की थी, जिनको परिभाषा में नहीं बाँधा जा सकता। वे एक नये वातावरण की आशा करते थे। और अब लोगों को अपने जीवन की इस 'घटना' से परिचित होने पर, उदासीन और निष्प्रयोजन-सा जब वे देखते हैं, तो उन्हें मन ही मन एक अभाव का भास होता है, और ज्ञात होता है, मानो प्रकृति का यह संगीत उनके जीवन से सुर ही नहीं मिलाता। और आज मिस्टर चिन्तामणि की इस बात से कि विवाह के उपरान्त तुम बिल्कुल बदल से गए हो, उन्हें कुछ सन्तोष सा हुआ।

दाईं ओर पेशकार साहब हाथ में डायरी लिये अगली तारीखों के पन्ने उलट-पलट रहे थे कि अब कौन-सा दिन बहस के लिए रक्खा जाय, और एक वकील साहब कठघरे पर कुहनी का सहारा दे कर हाथ में अपनी नोट-बुक पकड़े पेशकार साहब के निश्चय की प्रतीक्षा कर रहे थे। तभी हाँफते हुए मिस्टर बनर्जी ने प्रवेश किया और बेंच पर अपना हैट रखते हुए बोले—"हुजूर, एक अर्ज है। वह मुलजिम आ गया है। अब भी यदि मुकदमा ले लिया जाय, तो बड़ी कृपा होगी।"

"हाँ, ले आइये।" वर्मा साहब ने अँगरेजी में कहा—'वही, जिसकी उपस्थिति के लिए अभी वारण्ट की आज्ञा दी गई है ?"

"जी हुजूर !" मिस्टर बनर्जी ने कहा और कृतज्ञता से सिर झुका लिया, सोचा—'मुकद्मे में कम से कम आधा घण्टा अवश्य लगेगा और साढ़े चार बजने में अब हैं पाँच मिनट। ऐसी प्रार्थना तो डिप्टी साहब ने अब तक कभी स्वीकार न की थी। आज यह बड़ी कृपा की !'

मुकद्मा पेश हुआ। बयान लिखते-लिखते जब साढ़े चार की 'टन' हुई, तो सम्राट् जार्ज के चित्र के पास टँगी उस घड़ी पर मिस्टर बनर्जी और मिस्टर वर्मा की दृष्टि एक साथ गई। यह वर्मा साहब के कुरसी से उठकर घर चल देने का समय था। ठीक साढ़े चार बजे कचहरी छोड़ देने में वे अँगरेजों से किसी प्रकार कम न थे। पर आज वे नहीं उठे।

मिस्टर बनर्जी ने कहा—'हुजूर को देर तक रुकना पड़ गया, मैं माफी चाहता हूँ !"

वर्मा साहब ने मृदु मुस्कराहट के साथ सिर हिला दिया—"चलते रहिये।" बयान उसी प्रकार लिखा जाने लगा। चपरासी ने, जो साहब की दिनचर्या से परिचित था, मञ्च के किनारे से चढ़ कर खूँटी पर टँगी साहब की टोपी को उठाने का उपक्रम करते हुए कहा—"हुजूर, ताँगा आ गया !"

जब उसने देखा कि साहब तो चलने को तत्पर नहीं, लिख रहे हैं, तो अपनी गलती पर स्वयं डर से सहम-सा गया। साहब लिखते रहे। उन्होंने डाँट कर यह नहीं कहा कि देखते नहीं बयान हो रहा है, और तुम नालायक बीच ही में बोल उठते हो। साहब की इस आकस्मिक उदारता पर चपरासी को आश्चर्य हुआ।

ठीक आधे घण्टे बाद सब काम समाप्त करके, टोप सिर पर डालकर साहब जब कमरे से बाहर निकले, तो ताँगा रोज की भाँति तैयार न था। ताँगेवाले ने और दिनों की तरह झुक कर सलाम नहीं किया। वह गद्दी पर पाँव पसारे खर्राटे ले रहा था। डिप्टी साहब ने देख लिया, पर मन्द-मन्द मुस्कराते रहे। गम्भीर मुद्रा बनाये गरज कर, भयावने स्वर में यह नहीं कहा कि बदतमीज को कान पकड़ कर जगाओ।

ताँगे पर चलते-चलते मिस्टर वर्मा अपने मन में कहने लगे—'वर्मा, तुम्हारा वैवाहिक जीवन कैसा सुखमय है, तुम कैसे भाग्यशाली हो! स्वर्ण प्रतिमा सी सुन्दर पत्नी तुमको मिली है। कैसा अच्छा उसका स्वभाव है! कितनी भोली है वह!' तब अपने दाहिने-बायें, आगे पीछे चारों ओर जहाँ तक मनुष्यों के चेहरे दिखाई देते और पहिचाने जाते, वहाँ तक देख कर वे स्वयं से पूछते—क्या इन सबसे अधिक सौन्दर्य उसमें नहीं है? सौन्दर्य ही नहीं, उसमें जो शील और सौजन्य है वह और लोगों में कहाँ पाया जाता है! अपने सहयोगी 'गजटेड अफसरों' की पत्नियों के रूप-रंग और आकृति की मन ही मन तुलना करते मिस्टर वर्मा सोचते—'इन सबसे अधिक सौन्दर्य की प्राप्ति मैंने की है। वैवाहिक जीवन भी कैसा सुखमय है! संसार का बहुत-सा सुख दम्पति में केन्द्रित हो जाता है। अविवाहित पुरुष और स्त्री उस सुख के चंचल अदृश्य 'प्रोटोन' और 'एलेक्ट्रोन' हैं, जो स्वयं शक्तिशाली होते हुए भी अकेले रहने पर निःसहाय और निरुपाय हैं। उनका होना और न होना कुछ भी अर्थ नहीं रखता। पर जहाँ वे एक विवाह के सम्बन्ध से एकत्रित हुए, उनमें परमाणु की स्थिरता और उसके सभी गुण अनायास ही चले आते हैं। सारा विश्व एक ही सिद्धान्त

पर गना है। सब शक्तियाँ एक दूसरे की पूरक और अनुपूरक है। विवाह भी एक प्राकृतिक आवश्यकता है, इसकी अवहेलना नहीं की जाती।'

चलते-चलते बँगला निकट आ गया। मिस्टर वर्मा एक बार जा और दृष्टि दौड़ाकर सोचने लगे—'आज मुझे देर हो गई। बेचारी प्रतीक्षा में बैठी होगी। कई बार बाहर आ-आकर देख गई होगी। उसका हृदय भी कितना कोमल है! उस रोज घर आकर चाय पीने मे बैठा ही था कि कलेक्टर साहब ने मुझे बुला भेजा। मै तुरन्त ही उठकर चल दिया था। सीढ़ियो से मुड़ कर मैंने पीछे देखा था, तब उसकी आँखो से आँसू गिर रहे थे। सोचती होगी, यह नौकरी भी कैसी है, चाय भी भली-भाँति न पी सके और बुलौआ आ गया। पुरुष में जहाँ अपने विकास की स्वयं क्षमता नहीं है, और उसके लिये बाह्य अवलम्बनो की आवश्यकता है, वहाँ स्त्री का व्यक्तित्व तो केवल लावण्य है। बिना आधार के वह स्थिर ही नहीं रह सकता।'

× × ×

आत्म-सम्मान का पाठ मिस्टर वर्मा ने भली-भाँति पत्नी को पढ़ाया जिससे वह सोच-समझ कर अपना काम करने लगे और स्वामी के आत्म-गौरव को उसके कामों से धक्का न लगे; पर फिर भी कभी-कभी उसकी निश्छल, सरल प्रकृति उस पाठ को सहसा भूल कर अपना वास्तविक छल-रहित वेष प्रकट ही कर देती। यद्यपि वह एक डिप्टी कलक्टर की पुत्री और दूसरे की पत्नी थी और उच्च शिक्षा प्राप्त भी थी, तथापि पुरुषों की वह कला, जिसकी कृपा से वे सयत्नपूर्वक अपना बड़प्पन स्थिर रखने का प्रयत्न करते रहते हैं, उससे सीखी न गई।

वर्मा सोमवार के दिन अपने ऑफिस में टाइप बाबू को कुछ

खिला रहे थे, कि खूब जोरों की हँसी से उन्होंने देखा कि अन्तः-पुर हिला जाता है। यह तारा ही हँस रही है, यह समझते उन्हें देर न लगी। कुछ देर संयम से सुनते रहे, किन्तु जब हँसी का क्रम चलता ही रहा, तो उनका धैर्य भी जाता रहा। अन्दर आकर उन्होंने देखा कि बरामदे में खड़ी पत्नी, कुरसी के ऊपर मारे हँसी के गिरी पड़ती है। सामने गोरखा नौकर हक्का-बक्का-सा खड़ा है।

पति की त्योरी चढ़ी देखकर भी उसकी हँसी न रुकी और—"ही-ही देखिये, बर्फ देखिये, ही-ही," कहते-कहते वह फिर जोरों से हँसने लगी।

पति ने कड़क कर कहा—"क्या बात है?"

हँसते हँसते बड़ी कठिनाई से तारा कह पाई—"दो पैसे का बर्फ मँगाया था। घण्टे भर के बाद लालबहादुर आ रहा है; और बर्फ देखिये, वह पत्ते पर—ही-ही-ही मलाई का बर्फ लाया है! वह देखिये, हाथ पर गल कर दूध टपक रहा है। ही-ही-ही!"

पति को नौकर की इस गलती पर किंचित् भी हँसी न आई, और तब तारा को होश आया कि शायद उससे फिर गलती हो गई। इतने जोर से न हँसना था। मैं भी कैसी हूँ कि हँसी आ न रुकी। पर बात भी ऐसी ही थी। कहाँ पास की दूकान पर दो पैसे सेर बर्फ बिकता है, और यह घण्टा भर लगा कर एक तोले भर गला हुआ कुल्फीमलाई का बर्फ लाया है! यह सोचते-सोचते उसने अपराधिनी की भाँति अपना सिर नीचा कर लिया।

हँसी से खिली हुई पत्नी की उस रक्तिम मुद्रा की रूप-राशि को पति एकटक देखते रहे। इस निश्छल हँसी में आत्म-विभोर पत्नी को देख कर उन्हें ऐसा भास हुआ, मानो इस युवती का अन्तस्तल भी ऐसा ही स्फटिक-सा स्वच्छ और निष्कपट है जैसी कि बाह्य मुद्रा।

'अब जरा सुस्थिर होकर बैठो। क्या कुछ काम भी न करने

होगी।" कह कर मिस्टर वर्मा एकाएक बाहर की ओर, फिर अपने ऑफिस में चल दिये और अपना दफ्तर का काम समाप्त कर चुकने पर, फिर बिना अन्दर आये, क्लब को रवाना हो गये। यद्यपि वे खूब समझते थे, कि पत्नी की उस हँसी में उसका ऐसा कोई बड़ा दोष नहीं, फिर भी उनकी बार-बार यही इच्छा होती कि पत्नी स्वयं आकर एक बार अपनी उस अशिष्ट हँसी के लिए कैफ़ियत दे और क्षमा-याचना करे।

उधर तारा आत्म-सम्मान के उस पाठ को फिर एक बार भूल जाने से लज्जा और क्षोभ से गड़ी जाती थी। आज पहली बार पति बिना उससे कुछ कहे शाम को अकेले क्लब चले गये थे। इससे उसने अनुमान किया कि वे अवश्य ही बहुत नाराज होंगे। वह मन ही मन, अब किस प्रकार क्षमा माँगनी होगी, इस बात का अभिनय-सा करती हुई, रसोई में जाकर महाराज का हाथ बटाने लगी। खाना स्वयं अपने ही हाथों से वह अब तक पति को परोसती थी, और उनके खा चुकने के बाद स्वयं खाती थी। पति ने एक दो बार प्रस्ताव भी किया—"चलो, महाराज तो बना ही रहा है, वह परोसता रहेगा और हम तुम साथ खावें।" पर अपनी सलज्ज मृदु हँसी से उसने यह स्वीकार नहीं किया। और पति ने भी फिर इस परम्परागत स्त्रियोचित प्रणाली को आधुनिकता में परिणत करने के लिए अधिक आग्रह नहीं किया। विशेष कर जब कि उनकी और तारा की खाने की गति में बहुत अन्तर है। वे लगभग घण्टे भर में अच्छी प्रकार खा सकते हैं, और तारा को दस मिनट से अधिक नहीं लगते।

पर आज अन्दर के खाने के कमरे में न आकर, उन्होंने महाराज से कहला भेजा कि खाना दफ्तर में ही आ जाय। दफ्तर में एक छोटी मेज लगी थी, जिस पर कभी-कभी आगन्तुक पाहुनों

के लिए, विशेष कर मुसलमान और ईसाई मित्रों के लिए, खाना लगा दिया जाता था। आज पति वहीं पर खाना खायेंगे। यह जानकर तारा एकाएक हतबुद्धि-सी हो गई। इच्छा हुई कि जाकर उनको मना लाऊँ। पर यह जान कर कि मुन्सिफ साहब भी साथ में हैं, वह न जा सकी।

उस रात मिस्टर वर्मा भोजन के उपरान्त देर तक अपनी फाइलों से उलझते रहे और फिर आकर कपड़े बदले और चार-पाई पर लेट गये। तारा भी तब तक सो न पाई थी। उसने नौकर से दूध मँगाकर दिया, और उसके चले जाने पर वह भी आकर पति के पैरों के पास बैठ गई और टुकुर टुकुर उनकी ओर देखने लगी। पति के चेहरे पर निर्विकार गम्भीरता छाई था, और दूध पीते-पीते वे एक-एक घूँट पर मानो संचित विचारों की जुगाली-सी कर रहे थे। तारा की ओर उनका ध्यान ही न था। रोज की भाँति सोने से पहले संस्कृत की जिस 'राजतरंगिणी' को वे दोनों साथ-साथ पढ़ रहे थे, वह भी आज मेज पर ज्यों की त्यों पड़ी रही। गिलास रख कर मिस्टर वर्मा ने चादर खींच ली और सहज स्वाभाविक स्वर में कहा—"सो जाओ न, कब तक बैठी रहोगी।" और फिर करवट बदल कर उससे भी अधिक स्वाभाविक स्वर में कहा—"कल मुझे बाहर जाना है।"

अब जो कुछ पति ने कहा, उसमें क्रोध का लवलेश भी न था। पर वह मिस्टर वर्मा को पहिचान गई थी। शब्दों में क्रोध न होते हुए भी एकाएक कल बाहर जाने की व्यवस्था जो हो गई है, उसमें उसकी आज दिन की अशिष्ट हँसी का बहुत कुछ हाथ है, यह वह समझ गई। उसने देखा कि इन तीव्र बुद्धि के अल्प-भाषी देव की अविचल गम्भीरता के उस पार जो कुछ हृदय में है, उसे जान लेना आसान नहीं।

तारा उठ कर अपनी चारपाई पर आ गई, पर किसी प्रकार सो न सकी। उसके मन में दिन भर से जो ग्लानि उत्तरोत्तर एकत्रित हो रही थी यदि वह सीधे कलह के रूप में निकल आती, तो उसे शान्ति मिल सकती थी। इस प्रकार गम्भीरता के आवरण से उस कलह का मुँह बन्द-सा हो गया और वह अपने ही आग अन्दर जलने-सी लगी। जब कि उस अशिष्ट हँसी का प्रसंग बिलकुल भुला कर पति ने फिर दूसरा ही विषय आरम्भ कर दिया, तो उसके लिए अब फिर उस बात पर पहुँच कर क्षमा माँगना असम्भव-सा हो गया।

पति ने सोचा—यह कैसा अभिमान है। अपने उस कृत्य के लिये इसने जरा भी तो अपनी गलती स्वीकार नहीं की। यह बोली तक नहीं, और अन्त में मुझे ही इसके सम्मुख मुँह खोलना पड़ा।

अपने मन ही मन पति के बाहर जाने की बात पर अनेक कल्पनायें कर जब किसी प्रकार भी तारा को नींद न आ सकी, तो उसने अन्धकार में सहज से प्रश्न किया—"एकाएक कल कैसे बाहर जाना पड़ गया है ?"

पर उधर से कुछ भी उत्तर न आया, निःशब्द अन्धकार में तारा का यह वाक्य मिस्टर वर्मा के कानों तक पहुँचा अवश्य। पर यह सोच कर कि बाहर जाने का उद्देश्य सरकारी काम है, और फिर यह शंका करके कि क्या सभी सरकारी कामों का ध्येय पत्नी से बतलाना आवश्यक है, मन ही मन इस प्रश्न की कुछ देर मीमांसा-सी करने के बाद उन्होंने चुप ही रहने का निश्चय किया। किन्तु यह भी सोच लिया कि अब की बार यदि पत्नी फिर इस प्रश्न को दोहरायेगी, तो अवश्य ही बतला दूँगा। यह संकल्प करके वे फिर अन्धकार से आनेवाले उस वाक्य की

प्रतीक्षा-सी करने लगे, पर पत्नी को पति की उस चुप्पी से कुछ और कहने का साहस ही न हुआ।

दो-तीन बार इधर-उधर करवट बदल कर भी उस रात देर तक मिस्टर वर्मा को नींद नहीं आई। और यह जानकर कि पत्नी अपनी ओर से अब कुछ भी न कहेगी, स्वयं उनको ही उसके सामने फिर झुकना पड़ेगा और बातचीत का क्रम जारी करना पड़ेगा, कुछ आत्मग्लानि-सी उनको हुई। बहुधा ऐसे अवसरों पर मिस्टर वर्मा सोचते, क्या यही उनके वैवाहिक जीवन की कल्पना थी? जीवन-संगिनी का वह रूप जो विवाह के पूर्व कल्पना में उतरता और विलीन होता था, सत्य से कितना भिन्न था। जीवन की इस मंजिल पर पहुँच कर वे सोचते थे कि सुख-सौरभ से सम्पन्न एक सुन्दर भवन देखेंगे, अब मानो भवन है, किन्तु सब रिक्त। सुख-सौरभ का सारा संचय उनको स्वयं करना पड़ेगा। उस भवन के जिस प्रकोष्ठ में आते ही उन्हें पत्नी की आभा-उद्भासित होकर चतुर्दिक विकसित होने की आशा थी, अब मानो द्वार खोलते ही सकुचाकर पत्नी किवाड़ की ओट में आकर सिमट गई और सारा कमरा सूना ही सूना लगता है। उस आभा को जागृत करें अथवा यों ही पड़ी रहने दें, अब उन्हीं पर निर्भर है। सुख के जिस प्याले को लबालब भरे पाने की आशा थी, वह सुख मानो सारा सूखकर पेंदी में चिपक-सा गया। उसका उपयोग करें अथवा नहीं यह भी कोई पूछने वाला नहीं।

× × ×

एक सप्ताह इसी प्रकार कट गया। कभी मिस्टर वर्मा युद्ध-प्रयत्न को अधिक व्यापक बनाने वाली सभाओं में चले जाते, कभी जिले के व्यायाम के क्लबों में पारितोषिक वितरण करने

और कभी उनके 'एक मित्र' उन्हें सिनेमा देखने के लिये आमन्त्रित करते। इस प्रकार सारा सप्ताह बाहर ही बाहर कट गया। लोग इस निर्लिप्त नव-विवाहित मजिस्ट्रेट के और गुणों के साथ इस सगता को भी जोड़ने लगे। इन सब प्रकार के बाहर ही बाहर रहने के आयोजनों को वे अपने ही तक सीमित रखते थे। तारा को अवश्य ही प्रतिदिन कुछ घण्टे पहले बतला देते थे कि आज उनके लिये घर पर शाम का खाना न बनेगा, क्योंकि उनको अमुक स्थान में जाना है। उनकी बातचीत का ढंग नितान्त सरल और भाषा बड़ी स्पष्ट होती थी। बातचीत से अथवा आकृति से कभी इस बात का पता भी न लगता कि इस प्रकार तटस्थ रहकर वे तारा की उपेक्षा-सी कर रहे हैं। किन्तु इस आकृति और उनकी वास्तविक प्रकृति में जो स्पष्ट अन्तर था, वह तारा बहुत पहले समझ गई थी। उन निर्दोष दिखलाई देनेवाली आँखों के गम्भीर अन्तराल में एक कलह का बीज रोज रोज की उपेक्षा से सिंच कर पनप रहा है, उसका अस्तित्व मन ही मन मारे भय के उसे कँपा देता था। बार-बार वह सकल्प करती कि आज वे कचहरी से लौटे, तो उनके पाँवों पर गिर जाऊँगी, क्षमा-प्रार्थना करूँगी, और वे ऐसे कठोर नहीं हैं कि जो मुझे क्षमा न कर दें। पर मानो यह सब कुछ मिस्टर वर्मा पहले से ही सोच कर निवारण करते रहते। आजकल कचहरी से वे कभी अकेले न आते थे। कभी साथ में सहयोगी मिस्टर चिन्तामणि हैं, तो कभी मुंसिफ साहब और कभी पुलिस के डिप्टी सुपरिण्टेण्डेण्ट। कोई न कोई शाम की चाय के लिये उनके साथ चला आता। हँसते-खेलते चाय समाप्त होती। फिर टेनिस के लिये क्लब जाना होता और जल्दी से तारा के कमरे में आकर हैट उतार कर 'फेल्ट' टोपी पहिनते हुये मुस्करा कर मिस्टर वर्मा कभी अँगरेजी और कभी

ठेठ उर्दू में पत्नी से कहते—"प्रिये, क्षमा करना ! आज रात देर से लौटूँगा। शर्मा के यहाँ ब्रिज-पार्टी है। खाना भी वहीं है। अच्छा, तुम बुरा तो न मानोगी ?" और उत्तर की बिना प्रतीक्षा किये ही वे दरवाजे के बाहर निकल जाते। तारा के सारे संकल्प मन ही मन विलीन हो जाते। उस दिन कमरे में आते ही जैसे बाहर जाने का आयोजन हो रहा था और मिस्टर वर्मा अपनी टाई बदल रहे थे उसने घर से आई हुई उस चिट्ठी को उनके हाथ पर दे दिया और डरते-डरते कह दिया—'घर जा सकूँगी ?" मिस्टर वर्मा ने चिट्ठी, उसी ड्रेसिङ्ग-टेबिल की दराज पर रख दी और 'टाई' का एक फन्दा घुमा कर कण्ठ सिकोड़ कर कहा—"जल्दी में हूँ, तुम्हीं पढ़ कर सुनाओ, क्या लिखा है ?"

'हाय भगवान् ! इतनी भी फुर्सत इन्हें नहीं। टेनिस का यह खेल इतना जरूरी और इतना प्रिय है, और मेरी बात इतनी अप्रिय और उपेक्षणीय !' पत्नी ने सोचा और आँखों के कोनों पर उमड़ते हुए आँसुओं का प्रबल अविरोध करते हुए उसने कहा—"मुझे कब तक जलाओगे इस तरह ?" पर आगे जो कुछ सोचा था सब आँसुओं के आवेग ने मानो घुला कर बहा दिया। सिस-कियाँ बँध गईं, और वह कुछ भी न कह सकी।

मिस्टर वर्मा मृदु मृदु हँसते हुए, अपनी मुद्रा का प्रतिबिम्ब और टाई की गाँठ को आईने में जैसे देख रहे थे, वैसे ही देखते रहे और एक हाथ से उस पत्र को पलट कर देखने लगे। क्षणभर उसे देख कर बोले—"अच्छा, डिप्टी साहब का है, गिरीश की शादी का आयोजन जो है ! हाँ, तो तुम कब जाओगी ?"

पत्नी ने जो कुछ कहा, वह मानो उन्होंने सुना ही नहीं। वे फिर पत्र की ओर क्षण भर देख कर, और जो कुछ अब तक स्वयं कह चुके, उसके भी प्रत्युत्तर की प्रतीक्षा न करते हुए, फिर कहने

गये—"अच्छा, भाई साहब आयेंगे तुम्हारे, तुम्हें लेने के लिए। अच्छा है, हां आओ। मेरी अनुमति माँगी है? हद हो गई शिष्टाचार की, हँ, हँ, हँ। भला, इसमें अनुमति की कौन-सी बात है? लिख दो, जब चाहे आवें और ले जावें। क्यों तारा, भला" (और फिर आँख उठा कर पत्नी की ओर देखते हुए) तुम रो रही हो! क्यों? क्यों? क्यों?"

और फिर पास आकर मिस्टर वर्मा ने पत्नी का कन्धा थप-थपाते हुए उसकी ठुड्डी पकड़ कर मृदु-मृदु हँसते हुए कहा—"ओहो, मायके की याद तुमको अभी भी सताती है! हाँ, स्वाभा-विक है। भई जाओ, जब इच्छा हो तब जाओ। इसमें भला, रोने की क्या बात है?"

फिर मानो एकाएक चौंक कर कहा—"अच्छा हाँ, अब मैं जाऊँ न? बाहर शर्माजी भी न जाने क्या सोचते होंगे?" और एकाएक वे बाहर निकल गये। एक बड़ा उच्छ्वास तारा के मुँह से एकाएक निकल कर उनके साथ तेजी से बाहर निकल कर साथ चले जानेवाली हवा के झोंके में विलीन हो गया। और धम से कोच पर गिर कर वह फूट-फूट कर रोने लगी। उधर मिस्टर वर्मा बाहर निकले तो पत्नी के आँसुओं के प्रति अपनी ही अवहे-लना पर मन ही मन सोचने लगे। उन्हें ऐसा भास हुआ, मानो कठघरे के उस पार एक अभियुक्त खड़ा, अपने अपराधों की ग्लानि से गड़ा जा रहा है, और डबडबाती आँखों से उनकी ओर देख कर क्षमा-याचना कर रहा है। पर क्षमा भला उसे कहाँ मिल सकती है? कानून में जो कुछ लिखा है, वही तो उसे पक्षपात-रहित होकर दण्ड देना पड़ेगा, शायद कहना पड़ेगा कि 'अपराध की क्षमा नहीं होती, उसका दण्ड भोगना पड़ता है। जो कुछ निर्णय हो गया, वह तुमको सुनाया जाता है; तुम्हारे रोने गिड़गिड़ाने से

परिवर्तन होना सम्भव नहीं।' इसीलिये मानो पत्नी के उन आँसुओं की इतनी उपेक्षा हुई। फिर मन ही मन अपने को समझाते हुए मिस्टर वर्मा कहने लगे -- 'वर्मा, तुमने ठीक किया। यह अभियुक्त इसी दण्ड के योग्य था।'

तीसरे दिन दोपहर की गाड़ी से भाई साहब आ गये, और शाम को जिस तॉंगे पर मिस्टर वर्मा कचहरी से लौटे थे, उसी पर बैठ कर दोनों भाई-बहिन पॉंच बजे शाम की गाड़ी से घर की ओर चल दिये

× × ×

एक और सप्ताह इसी प्रकार दौड़-धूप में कट गया। तीन दिन तो लाट साहब के जिले में आ जाने से मिस्टर वर्मा को व्यस्त रहना पड़ा और खाने-पीने की सुधि तक न रही। चौथे दिन थकान मिटाई गई। पॉंचवॉं दिन भी कलेक्टर साहब की गार्डेन-पार्टी में कट गया, पर बाकी दो दिनों में केवल वृद्ध एक्साइज क्लर्क के बिना छुट्टी के एकाएक अनुपस्थित रहने के अतिरिक्त और कोई विशेष घटना न हुई। डेढ़ महीने की छुट्टी काट कर अभी एक सप्ताह पहले वह क्लर्क लौटा था, और आते ही उसने दस दिन की आकस्मिक छुट्टी का आवेदन-पत्र भेज दिया। मिस्टर वर्मा यों ही उससे चिढ़े हुए थे, कि कमिश्नर के दो-तीन 'रिमाइण्डर' आ चुके हैं, और उसने उनकी अनुपस्थिति का लाभ उठा कर डेढ़ महीने की छुट्टी मंजूर करा ली। अब काम के ढेर लगे देख कर बचने के लिए फिर दस दिन अनुपस्थित रहना चाहता है, इसीलिए उन्होंने बड़े बाबू को हुक्म दिया था कि इस क्लर्क से जवाब तलब करो कि क्यों बार-बार छुट्टी पर छुट्टी लेता है, और सरकारी काम में मन नहीं लगाता। पर जब तक यह आज्ञा उस क्लर्क तक पहुँची, कि वह एकाएक बिना अपना उत्तर दिये ही घर

चला गया। सारे कचहरी के क्लर्क और बड़े बाबू भी जानते थे कि इन दो महीनों में—(बड़े बाबू की कृपा से छुट्टी केवल डेढ़ महीने की माँगी गई थी, लेकिन बूढ़े श्रीवास्तव बाबू पूरे दो महीने बाहर रहे थे) इधर-उधर घूम-घाम कर अपनी बड़ी लड़की की कहीं शादी तय कर आया है, और अब दस दिन की आकस्मिक छुट्टी लेकर उसकी शादी करने गया है। पर मिस्टर वर्मा के सामने कोई इस सचाई को अपने मुँह पर न ला सकता था।

एक सप्ताह के बाद एकाएक वर्षा के आरम्भ हो जाने से क्लब में जाना रुक-सा गया, और कचहरी के बाद रात के दस बजे तक घर ही रहना पड़ता। अब यह एकान्त मिस्टर वर्मा को दिन पर दिन खलने लगा। अब मिस्टर वर्मा उमड़ते हुए बादलों, सनसनाती हुई झड़ी और दूर से अस्पष्ट गूँजते हुए कीड़ों की ओर एकटक ध्यान-सा लगाकर तारा के अभाव को अनुभव करते। सोचते, प्रेम की उस सुन्दर परिधि के अन्दर जाने के लिये जैसा सुगम मार्ग है, वैसा उससे बाहर निकलने के लिये नहीं है। किसी अँगरेजी उपन्यास के आधे अध्याय के पढ़ चुकने के बाद एकाएक रुक जाते और सोचते—उसका कुछ भी तो दोष नहीं। वह कितनी सरल और भोली है, मैं क्यों उसे दुःख देकर अपने को स्वयं दुःखी बना रहा हूँ। उसकी प्रत्येक स्मृति उन्हें अब आदर्श जान पड़ती, और मित्रों के बाहर चलने का आग्रह करने पर अब वे वर्षा के रुक जाने पर भी बाहर न जाते और अपने अन्तस्तल में जलती हुई विरह की अग्नि में अपने को संयम से ढाल कर स्वयं भी उस अनुपस्थित आदर्श की मानो स्पर्द्धा सी करते।

जब तक वे पढ़ते थे, तो एक आदर्श विद्यार्थी थे, और जब उन्हें प्रतियोगिता में सफलता प्राप्त हुई और डिप्टी कलेक्टरी मिली, तो भी एक आदर्श न्यायाधीश बनने का यथाशक्ति प्रयत्न उन्होंने

किया। इस तीस वर्ष की आयु में किसी रमणी का, अपनी केन्द्रित दृष्टि की पूर्ण शक्ति से उन्होंने निरीक्षण न किया था। रमणियाँ अब तक उनकी दृष्टि के विभिन्न कोणों पर जाकर टकराई थीं। उनके लिए स्त्रियाँ भी अब तक इतर जीव थीं जैसे उल्का, जिनका साधारण वायुमण्डल में आना-जाना अथवा स्थिर रहना, किस विज्ञान के अन्तर्गत है, उन्होंने अब तक अपना कर्त्तव्य न समझा था। वे या तो चंचल छात्राओं के रूप में उनके सम्मुख आई थीं, अथवा मूक अभियुक्तों की भाँति। किन्तु तारा के एकाएक चले जाने से अब कहीं उन्हें एक अप्रत्याशित अभूतपूर्व अभाव-सा भास होता और अब उनकी मुद्रा से जब कि वे एकाएक गम्भीर होकर थोड़ी देर के लिए, लिखते-लिखते अथवा बहस सुनते सुनते ध्यान-मग्न हो जाते, ऐसा विदित होता मानो अब वे अपनी सुरक्षित सीमा से बाहर आपद्-पूर्ण स्थान में निकल आये हैं, जहाँ उन्हें खतरे का डर लगा रहता है। मानो शक्तिशाली प्रकृति के इस मनुष्य ने कहीं किसी दिशा में अपनी महती शक्ति का दुरुपयोग कर दिया, ऐसा अनुभव उन्हें होता रहता।

ऐसे ही चार सौ ग्यारह धारा का एक मुकदमा जब एक दिन उनकी अदालत में पेश हुआ, तो चारों गवाहों के बयान सुनकर जब उन्होंने फर्द जुर्म लगाने के लिए अभियुक्तों से उनके नाम पूछे, तो एक कुरूप-सी चमारिन ने, जो अपराधियों में से थी, अपना नाम बतलाया—'तारादेई।'

फूँक मार कर दिया बुझा देने से जिस प्रकार कमरे की शकल बदल जाती है, ऐसे ही इस प्रत्युत्तर से वर्माजी का चेहरा ऐसा शुष्क और नीरस हो गया कि एक खाँसी का सहारा लेकर उन्हें बाँह के अन्दर अटकाया हुआ रूमाल निकालना पड़ा, और दो-चार क्षण बाद फिर वे सुस्थिर हो सके।

उस दिन घर आकर वे अपने अदालत के उस एकाएक असाधारण आचरण के विषय में अनेक प्रकार से सोचने लगे। उन्हें ऐसा ज्ञात होने लगा, मानो वह नाम अब उनकी धमनियों के एक-एक रक्त कण में पहुँच गया है और अनायास ही उसका उच्चारण उनके तमाम स्नायुओं को आलोड़ित कर देता है। अब एकान्त में मनोविनोद के लिए अपने प्रिय गीत के गुनगुनाने की अथवा 'स्सी-स्सी' सीटी बजाने की उनकी आदत एकाएक लुप्त हो गई है और मन ही मन वे दोहराते हैं—'तारा, तारा, तारा, और जब यह नाम तीन-चार बार इस प्रकार बिना सोचे ही उनके मुँह पर आ जाता, तब ये इसका अनुभव कर पाते कि वे क्या कह बैठे हैं। शाम को बाहर न जाकर उस रोज भी उन्होंने घर ही पर रहने का निश्चय किया। एक-दो बार उन्होंने चाहा कि तारा को एक पत्र लिख दूँ कि चली आओ, और कुछ अपनी ओर से ही क्षमा का-सा आभास उस पत्र में दे दूँ। किन्तु बातें ऐसी अरागत और अस्तव्यस्त होकर आने लगीं कि उन्हें 'पैड' के कई कागज आरम्भ करके फिर फाड़ देने पड़े। फिर एक पत्र को हाथ में लेकर ये चारपाई पर चित लेट गये। उसे उलट-पलट कर देखा, पर उसमें रूस की बहादुरी, चीन की लड़ाई और मिस्टर जिन्ना की वक्तृता के अतिरिक्त कुछ भी न था, उसे फिर कुरसी पर डाल कर वे एकटक छत की ओर देखने लगे। इस छत पर वे इस सप्ताह के अन्दर इस प्रकार कई बार देख चुके हैं। लोहे की चादर से छाई हुई इस छत के अन्दर तख्तों की 'सीलिङ्ग' है। इन चीड़ के तख्तों की लम्बाई-चौड़ाई और रङ्ग सब उनको अलग-अलग ऐसे याद हो गये हैं कि वे आँख मूँद कर उनका चित्र कागज पर बना सकते हैं। और एक-दो बार जब बाहर जोरों से पानी पड़ रहा था, एक बार ऐसा प्रयत्न करके सफल भी हो चुके हैं।

तख्तों के बीच में बिजली के तार के लिये लकड़ी का पतला-सा लम्बा तख्ता है, यह आधी दीवार तक आ गया है, वहाँ पर स्विच है। छत पर भी यह तख्ता आधी लम्बाई तक दीवार के समानान्तर है और उसके बाद समकोण पर मुड़ कर दूसरी दीवाल के समानान्तर चला गया है। इस प्रकार बिजली की फिटिंग के ये तीन टुकड़े एक दूसरे से नब्बे अंश का कोण बनाते हैं। कई वर्ष पहले पढ़ी हुई अपनी ठोस ज्यामिति के साध्यों को स्मरण करके वे मनोविनोद भी कर चुके हैं। अब इन सब वस्तुओं में नीरसता आ गई है।

अब क्या करें, यही सोच कर मिस्टर वर्मा उठ कर बैठे ही थे कि चपरासी ने तार का एक लिफाफा हाथ पर दे दिया। दस्तखत करके चपरासी के बाहर निकलने तक वे अपनी जिज्ञासा रोके रहे, तब उसे खोल कर पढ़ा। लिखा था—'कल शाम की गाड़ी से पहुँचूँगी—तारा।'

तार मेज पर रख कर उन्होंने कमरे में नाच की-सी एक विशेष गति से टहलना शुरू किया। उनका पाँव दरी की छपी हुई धारियों पर ही पड़ रहा था और वे अपने आपसे कह रहे थे—'वर्मा, तुमने तारा को नहीं पहिचाना। यही तो तुम्हारे जीवन का प्रकाश है। किस अमूल्य रत्न को तुम मिट्टी में मिलाये देते थे। स्वयं शान्ति और उसकी मुद्रा में कुछ भी भेद नहीं। उसने अपना समस्त जीवन तुम्हें अर्पण किया है और तुम अपने में संशोधन करना छोड़ कर, इस पाई हुई निधि को भी न पा सके थे। कैसा तुम्हारा दुर्भाग्य था।'

× × ×

मधुर मुस्कराहट से जब मिस्टर वर्मा ने रात्रि के उस अन्धकार में पत्नी को ट्रेन से नीचे उतारा, तो एक वास्तविक आनन्द

से तारा की आँखें डबडबा आईं। उसे यह आशा ही न थी कि इस आँधी और पानी में पति रात के समय उसे लेने स्टेशन तक आयेंगे। पति के इस असीम प्रेम और उसके प्रति क्षमा के भाव ने उसे गद्गद कर दिया। पति पत्नी की उस रूप-राशि को मानो पुनः पाकर मन ही मन अपना अहोभाग्य समझ रहे थे, कि उन्हें अपनी त्रुटि सुधारने के लिये कुछ विशेष प्रयोजन न करना पड़ा और सब बातें यथाविधि फिर पूर्ववत् हो गईं।

वर्षा से बचने के लिये आनन्द से निःशेष दोनों प्राणी जल्दी से बरामदे के नीचे आकर कुली की प्रतीक्षा करने लगे। वर्षा के उत्तरोत्तर बढ़ते हुए पानी के गिरने से जल की 'पैरेबोला' सी छत म निकल कर फर्श को छू रही थी। उसके पास ही एक वृद्ध व्यक्ति की ओर संकेत करके तारा ने कहा—'गिरीश के ससुर भी साथ ही आये है। ये ही तो हैं।'

राघ आनन्द के आवेग में वर्माजी एकाएक उन वृद्ध की ओर लपके और कहा—'आइये साहब, इधर आ जाइये, पानी जोर का है। क्षमा कीजिये, मैं तो विवाह में आ भी न सका।'

अभियोगी की भाँति वृद्ध ने कठिनाई से थूक निगला और क्षीण, किन्तु स्पष्ट शब्दों में कहा—'नहीं हुजूर, मैं किस योग्य हूँ।'

मिस्टर वर्मा उत्तर सुनकर स्तब्ध रह गये। विह्वल दृष्टि से इस वृद्ध चिरपरिचित श्रीवास्तव बाबू की ओर देखते ही 'रह गये'।

❁ ❁ ❁

दफ्तर में दूसरे दिन श्रीवास्तव बाबू की लड़की की शादी सम्पन्न हो जाने के समाचार के साथ साथ वर्मा साहब की पुनः लम्बी छुट्टी के आवेदन की भी बड़ी खुशियाँ मनाई गई। बाबुओं की बातचीत से पता लगता है कि शायद वे अब लखनऊ जाकर अपनी बदली का प्रयत्न करनेवाले हैं।

१४

केदारनाथ के मार्ग पर

पहाड़ का एक कुहनी के आकार का कोना, जिसे कुमायूँ के इस पर्वत-प्रदेश में, पहाड़ की धार कहते हैं, यहाँ पर आकर समाप्त हो गया, और नया ही भूमि-भाग, जो अब तक इस धार की ओट में छिपा हुआ था, दृष्टिगोचर हुआ। सड़क अब पहाड़ की चढ़ाई पर बल खाती हुई, सुरई, देवदार और भोज के पेड़ों की हरी-हरी पृष्ठ-भूमि पर श्वेतलता-सी, पर्वत पर लुकती-छिपती-सी दिखलाई दे रही थी।

"स्वामीजी, यह सामने गुप्तकाशी है," साथ मे चलनेवाले उस यात्री ने कहा। जोशी ने (स्वामी जी का यही वास्तविक-नाम था) पहाड़ के ऊपर संकुचित सड़क के दोनों ओर श्वेत मकानों की आठ-दस पंक्तियों को देखकर मन ही मन कहा—'आह, यह है गुप्तकाशी, मन्दिरों के दो-एक गुम्बज और पीतल के कलश भी चमक रहे हैं। इतने बड़े भारतवर्ष का जैसे एक छोटा सा उभरा हुआ मानचित्र विद्यार्थी पाठशाला के आँगन में बना लेते है और उसी में गंगा-यमुना, सिन्धु आदि की गहरी लकीरें सी बना कर पानी भर देते हैं, और समुद्र को भी एक छोटा-सा तालाब का रूप देकर यथार्थ हिन्दुस्तान बनाने का प्रयत्न करते हैं,

ऐसे ही प्राचीन ऋषि मुनियों ने पर्वतों के बीच से निकलनेवाली इन दो धाराओं को गंगा-यमुना का नाम देकर वाराणसी काशी का यह मानचित्र-सा बनाया होगा।

ज्यों-ज्यों दोनों यात्री इस वाराणसी काशी के ऋषि रचित मानचित्र-सी इस नगरी के निकट आते जाते, त्यों-त्यों इसका आकार स्पष्ट होता जाता। सबसे निकट के मकान के आगे दूकान-सी थी। उसके आगे बेंच पर जोशी की दृष्टि पड़ी, तो वह एकाएक ठिठक-सा गया। पुलिस का एक कान्स्टेबिल ठीक उसकी ओर देख रहा था।

'काशी से भागकर अब तक जिस सत्य के सहारे इस गुप्त वेष की रक्षा की है, क्या अब गुप्त काशी में इसकी अवधि समाप्त हो जायगी?' यही मन ही मन सोचकर जोशी चलता रहा। इच्छा हुई कि सिपाही की दृष्टि से बच जाने के लिये रुक जाये, पर कुछ इस विचार की अस्पष्ट वेदना से और कुछ अपने साथी की शंका के निवारणार्थ वह चलता रहा।

"स्वामीजी, अब केदारनाथ धाम," साथी कहने लगा—"सिर्फ बारह कोस रह गया है।"

जोशी कुछ भी न बोला। पहाड़ की ढाल पर छिटके हुए उन श्वेत मकानों की पंक्तियों की ओर सीढ़ी के आकार के खेतों पर उगे हुए लाल-लाल फाफर के पुष्पों को उसने देख भर लिया। जिस प्रगल्भता से, पर्वत प्रदेश का सौन्दर्य, यह साथी उनसे इतनी देर से सुनता आ रहा था, वही 'स्वामीजी' की प्रगल्भता अब सहसा लुप्त-सी हो गई।

बनारस विश्वविद्यालय के इस विद्यार्थी को, जिसका पूरा नाम दिवाकर चिन्तामणि जोशी था, 'स्वामी' का वेष धारण किए अभी कुछ ही महीने बीते थे। राजनैतिक दंगे में गिरफ्तार होने के

बाद इसे चार वर्ष के कारावास का दण्ड मिला था। अपने और साथियों की कृपा से किसी प्रकार यह जेल से भाग निकला था। हरिद्वार और ऋषिकेश में कुछ समय साधुओं के पास बिताकर, अब इन हिमालय-पर्वतों में तीर्थयात्रा के बहाने, आ निकला था। पुलिस से, इसे डर तो अवश्य था; पर इस समय एकाएक उस लालपगड़ीवाले सिपाही को देखकर ठिठक जाने का कारण केवल डर ही न था, जोशी इसे अपने शब्दों में 'घृणा' कहा करता था। किसी जीव को देखकर एकाएक जी मचल उठता है और बचकर जल्दी उसके पास से निकल जाने की इच्छा होती है, ऐसी ही इच्छा उसको इन लाल पगड़ीवालों को देखकर होती थी। कई दिनों तक रियासत गढ़वाल में यात्रा करने से, इस भावना को प्रादुर्भाव का अवकाश न मिला था; क्योंकि ऐसे जीव उधर कहीं दिखाई न दिये थे। पर सहसा यहाँ पर इस एक ऐसे व्यक्ति पर दृष्टि पड़ते ही, सुप्त, किन्तु चिरसंचित उस अमिट दुस्सह भावना को जागृत होने में झटका-सा लगा, उसीसे हृदय में एकाएक रक्त की गति शब्दमय हो गई और उसका धक-धक शब्द, पर्वत-शिलाओं पर टकराती हुई निकटवर्ती अलकनन्दा की सायँ-सायँ ध्वनि को भी पार करके कानों में गूँजने लगा।

आँख उठाकर जोशी ने फिर उस दूकान को देखा। पर एकदम उसी सिपाही पर दृष्टि नहीं डाली। पहले स्लेट की छाई हुई छत को, फिर लकड़ी के जँगले पर पड़ी टीन की चादरों को, और तब धीरे-धीरे वहाँ से आँख हटाकर बेंच को देखा। तब बड़ी उदासीन, निष्फल-सी दृष्टि उस सिपाही पर डाली। पर वह ठीक उसी की ओर अब भी देख रहा था।

मन ही मन सिपाही को गाली देते हुए जोशी ने दाँत पीसकर कहा—"हियर टू यू हैव फाउण्ड योर वे, डैम यू रासकिल!"

(कम्बख्त, यहाँ भी तू आ पहुँचा है, बदमाश कहीं का !) और वहीं सड़क के किनारे, एक बड़े से पत्थर पर बैठकर साथी से कहा—"तो अब केदारनाथ पहुँच ही गये। लाओ भाई, तुमने तम्बाकू पीना जो सिखला दिया है। अब कभी-कभी पीने को भी जी करने लगता है। है कुछ पोटली में ?"

"हाँ स्वामीजी," साथी ने कहा—"चढ़ाई पर मेरी भी साँस फूल जाती है, और मैं भी यही सोच रहा था।"

"और मेरे डर से कह न सके थे ?" जोशी ने मुस्कराकर कहा कंकड़-पत्थरों को हटाकर, अपने कमण्डल को जमीन पर ठीक तरह से रखकर एकबार फिर नीले आकाश की पृष्ठ-भूमि पर उस दूकान की ओर देखा और तुरन्त ही उस ओर पीठ करके नीचे बहती हुई अलकनन्दा की ओर देखना शुरू कर दिया।

"चिलम भर कर दूँ या बाँज की खोपी में पीजियेगा ?" साथी ने पूछा।

"बाँज की खोपी में", जोशी ने कहा—"लाओ हमको भी एक-दो पत्ते देना बाँज के। देखते हैं हमसे बनती है कि नहीं।"

बाँज के पत्ते तोड़कर, सूची के आकार की दो चिलमें बनाकर उनमें आधी लम्बाई तक उस साथी ने सूखी तम्बाकू भर दी, और पास ही कुछ सूखे पत्तों को जलाकर जलती हुई चिनगारियाँ दोनों सूचियों में (जो इस प्रदेश में 'खोपी' कही जाती हैं) रख दीं। एक सूची अपने हाथ में लेकर दूसरी जोशी को दे दी। साथी उसे दोनों हाथों के बीच ठीक चिलम की तरह रखकर धुआँ खींचने लगा। पर जोशी ने उसे पीने की नई तरकीब निकाल रक्खी है। वह उसके पतले सिरे को ओठों के बीच दबा कर आकाश की ओर मुँह कर लेता है और सिगार की तरह उसे पीता है।

'कितनी बार मैं पुलिस के चंगुल से बच चुका हूँ। इन तीन महीनों में मेरी जीवनी कितनी मनोरंजक रही है।' जोशी आकाश में उठती हुई उन धुएँ की गोल-गोल आकृतियों की ओर देखकर सोचने लगा—'जेल के फाटक पर मैं पकड़ लिया गया था। वार्डर ने पूछा था—'कौन हो तुम ?' मैंने सच बतला दिया था, कहा था—'मैं हूँ डी० सी० जोशी।' 'क्यों आये थे इधर ?' उसने मेरी तत्परता से संकुचित होकर फिर पूछा था। और मैंने उसी तत्परता से कहा था—'छुड़ाने आया था दिवाकर को।' 'अच्छा, जमानती हो तुम !' उसने बिना मुझे पहिचाने कहा था और चलते-चलते मैं बोला था—हाँ-हाँ।' तब उसने मुझे फिर जाने दिया था।

हरद्वार में रेलवे स्टेशन पर सी० आर० पी० का वह दारोगा मिल गया, हरिनारायण पाठक। बी० एस० सी० में कुछ दिनों मैं और वह साथ ही रहे थे। 'डिफरिंशल कैलकुलस' से घबराकर वह दो ही महीने के बाद पुलिस ट्रेनिंग स्कूल में चल दिया था। हरद्वार के स्टेशन पर ज्यों ही मैं उतरा, बोला था—'जोशी, आज यह कमण्डल कहाँ ले जा रहे हो ?' मैंने कहा—'ऐसे ही, एक साधु ने मँगाया था, लिये जा रहा हूँ।' 'कमण्डल के लिये क्या हरद्वार की यात्रा करनी पड़ी है ?' उसने पूछा था। और सरलता से मैंने कहा था—'नहीं, हरद्वार की यात्रा के लिये कमण्डल की आवश्यकता पड़ गई थी। इसलिये लेता आया।' रेलवे के रिफ्रैशमेंट रूम में चलकर चाय पीने का आग्रह उसने किया था, और मैंने भी इनकार नहीं किया।

चाय पीते-पीते उसने कहा—यूनिवर्सिटी तो शायद दंगे के कारण बन्द हो गई है।' मैंने सिर हिलाकर कह दिया था—'हाँ'। 'तो तुम भी इधर भाग आये होगे कि कहीं पकड़-धकड़

न लिये जाओ ?' उसने पूछा था। 'हाँ, मैं भी भाग आया हूँ।' मैंने कहा था।

'भाग क्या आये हो, मैं भी सब पता रखता हूँ।' उसने कहा था, और तब मैंने सोचा था कि अब पकड़ लिया गया। पर दूसरे ही क्षण वह बोल उठा—'इधर जो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होनेवाला था, उसीमें कुछ व्याख्यान देने की मन्शा होगी तुम्हारी।' सन्तोष की साँस सी लेकर मैंने कहा था—'हाँ, कुछ ऐसा ही है।' और तब उसने कहा था—'तुम्हारे सभा-सम्मेलनों के मारे बुरा हाल है मेरा। लिखने-पढ़ने के डरके मारे पुलिस में नौकरी करने आया था। यहाँ भी जब उसी लिखने-पढ़ने का काम होने लगा है, तो यही सोचता हूँ कि पल्टन में नाम दे दूँ। कहो तुम्हारी कैसी राय है ?' और तब गाड़ी की सीटी सुनकर अपने बड़े विशाल हाथ से मेरे हाथ को मिलाने के लिये जबरदस्त झटका-सा देकर वह चल दिया था। मैं उस समय उसे अपनी राय न दे सका था, सोचा तो मैंने था कि कह दूँ, नौकरी छोड़ दो, देश की आजादी में भाग लो, नेहरू और गाधी का अनुकरण करो। पर अच्छा ही हुआ, जो जल्दी उठकर जाना पड़ा। नहीं तो शायद 'मेरी राय' मेरे कारावास का फिर कारण बनती।'

इन्हीं मिष्ट विचारों की जुगाली-सी लेता हुआ जोशी तम्बाकू के धुएँ के बादलों की उन गोलाकार आकृतियों से खेल-सा रहा था कि किसी ने पीछे से कहा—"आइये, स्वामीजी ऊपर आइये।" बूट की आवाज के बीच इन शब्दों को सुनकर जोशी ने कन्धे के ऊपर से, बिना पूरी तरह मुड़े ही, पीछे की ओर देखा। पुलिस का वही सिपाही उसे ऊपर बुला रहा था।

"ऊपर बैठने का अच्छा प्रबन्ध है, चलिए।" उस सिपाही ने कहा और जोशी इस अयाचित निमन्त्रण से अधिक प्रसन्न होने

का उपक्रम करता हुआ उठकर खड़ा हो गया और बोला—"चलो भाई।"

थोड़ी दूर चलकर सिपाही ने देखा कि स्वामीजी कमण्डल तो पीछे ही छोड़ आये है।

"कमण्डल तो आप ही का है?" उसने कहा।

"अरे हाँ!" कहते हुए स्वामीजी पीछे मुड़े तो सिपाही ने उसे खुद पीछे लौट कर उठा लिया।

× × ×

"सोबनसिंह, स्वामीजी के लिए चाय तो बनाओ।"

उस सिपाही ने दुकानदार को सम्बोधित करके ठेठ गढ़वाली भाषा में बेंच पर बैठी हुई एक पहाड़ी औरत को उधर खिसक जाने को कहा और बेंच का एक किनारा उनके बैठने के लिए खाली करवा दिया। बैठकर जोशी इस अप्रत्याशित सम्मान के विषय में सोचने लगा। पर किसी भी अतीत की घटना से इस पुलिस के सिपाही को अथवा आसपास बैठे हुए अन्य आदमियों को सम्बन्धित न कर सका। अब फिर एक बार उसने अपने निकट बैठे हुए सभी व्यक्तियों को ध्यान से देखा, जैसे जल्दी से रेल में सवार होने के उपरान्त हम रेल के चलने पर, आगन्तुकों के धक्के-मुक्कों से निश्चिन्त होकर अपने साथियों की ओर किसी परिचित चेहरे को एकाएक पा जाने की आशा से देखते है। पर वहाँ पर कुछ भी परिचित-सा न दिखलाई दिया। दुकान दो-मंजिला थी। जितनी स्वच्छ और आकर्षक वह नीचे सड़क पर से दिखलाई दे रही थी, उतनी ही मैली और कुरूप पास आकर जान पड़ने लगी। आटा, चावल, दाल आदि के खुले लकड़ी के बक्सों के उस पार एक जगह पर बकरी की खाल बिछी हुई है। पास में एक हाथ भर ऊँची बेंच पर डाकखाने की मुहर,

मुहर लगाने की काली स्याही और बादामी रसीद काटने का रजिस्टर पड़ा हुआ है। दूकान के बाहर चौखटे पर लोहे की दो तख्तियाँ हैं। एक पर लिखा है—'भीतर मति आओ।' और दूसरे पर 'ब्राञ्च पोस्ट आफिस।' उन पास की सभी वस्तुओं में यही दो तख्तियाँ जोशी को मानो चिरपरिचित-सी जान पड़ने लगीं। यही अशुद्ध वाक्य—'भीतर मति आओ' उसने इधर कई डाकखानों पर लगा अब तक देख लिया है।

"क्यों भाई, क्या तुमने कभी पहले भी मुझे देखा है?" जोशी ने उस सिपाही को सम्बोधित करते हुए अब कुछ निश्चिन्तता से कहा और ठीक सिपाही की आँखों में न देखकर दूकान के ऊपर दोमंजिले की ओर देखने का उपक्रम-सा किया।

"नहीं स्वामीजी, पहले तो नहीं। उस रोज हरद्वार में आप पाठकजी के साथ तो थे। मैं एक साल भर उन्हीं की मातहती में रहा हूँ, जब वे शेरनपुर के थाने में नायब थे। बड़े अच्छे अफसर हैं साहब—गाय से सीधे।"

पर जोशी की आँखें इस समय उस दो मंजिले पर लगे एक साइनबोर्ड पर और उसके पास ही टँगे एक और इश्तहार पर थीं। साइनबोर्ड पर लिखा था—'यात्रा-लाइन पुलिस की चौकी' और इश्तहार पर जो कुछ अंकित था, वह इतनी दूर से अस्पष्ट-सा होते हुए भी एकाएक जोशी के सारे शरीर में एक प्रकम्पन-सा पैदा कर गया। जिस निर्मल और प्रशान्त हँसी के भाव में, निश्चिन्तता से उसने पूछा था कि क्या तुम मुझे जानते हो और सिपाही के उत्तर की स्पष्टता से जिस और अधिक निश्चिन्तता का मार्ग-सा खुल गया था, वह एकाएक फिर बन्द हो गया, और जोशी क्षण भर के लिये अपनी निर्विकार गम्भीरता को स्थिर न रख सका। पर क्षण ही भर उसे सुस्थिर होने में भी लगा। इस

आकस्मिक भाव-परिवर्तन के प्रभाव को समीपवैठे हुओं से यथा-शक्ति गुप्त रखकर अपने को अविचलित दिखलाने के लिए उसने सिपाही के उत्तर का अन्तिम वाक्य फिर दोहराया—"हाँ, गाय से सीधे हैं, पाठक साहब ! जानते हो, जब हम लोग साथ ही स्कूल में पढ़ते थे, तो उन्हें बैल कहा करते थे। ऐसे मोटे थे 'वे'। नींद भी उन्हें खूब आती थी। सुबह जब देर तक न उठते थे, तो हम कहीं से भूसा या घास लाकर उनके कमरे में डाल देते थे।"

सिपाही जोर से हँस पड़ा और हँसते-हँसते बोला—"हाँ साहब, मोटे तो वे बहुत हैं।" पास बैठे हुए लोगों पर भी इस हँसी का प्रभाव पड़ा और हास्य के इस आवरण में जोशी ने फिर मानो कुछ और साहस-सा बटोर लिया; कहा—"अच्छा, नीचे डाकखाना है और ऊपर दोमंजिले में थाना।" इस चौकी के लिए जो थाने का प्रयोग कर लिया उसीका मानो प्रभाव-सा इस सिपाही की मुद्रा पर, जोशी पढ़ने-सा लगा।

"थाना क्या है !" सिपाही ने कहा—"तीन सिपाहियों के लिए यह एक जेल ही है। चौकी का नाम बदनाम किया है। न इसमें चारपाई की जगह है और न कहीं खाना बनाने को चूल्हा-चौका ! देश में पुलिस की चौकियाँ थाने से क्या कम होती हैं ?"

जोशी, इश्तहार की बात पर फिर आकर सिपाही की शंका का (कि शायद वह इश्तहार को देखकर एकाएक मेरे चौंक जाने को ताड़ न गया हो) अन्त कर देना चाहता था। इसीलिए उसने पूछा—"अच्छा, उस नोटिस-बोर्ड पर वह तस्वीर वाला इश्तहार क्या है ?"

"स्वामीजी, वही तो हम लोगों की यहाँ तैनाती का कारण है। जेल से कोई कांग्रेसी भाग निकला है। उसीका फोटो है। और क्या ? इस पहाड़ में न कोई सिनेमा है, न कोई बाइस्कोप;

जो तस्वीरवाले इश्तहार देखने को मिले। सोबनसिंह, सच कहता हूँ, जब मैं सिनेमा-घर की ड्यूटी पर देश में जाता था, तो सैकड़ों तस्वीरें रोज लाकर बाँट देता था। नौकरी तो देस की अच्छी, चलने-फिरने को ताँगा, इक्का, मोटर। खाने-पीने को एक से एक बढ़िया चीजें। और पहिनने में वही वर्दी रोज पहिन लो, और कपड़े चाहिए भी नहीं। यहाँ, एक दो नहीं, चार कपड़े एक के ऊपर एक पहिने हैं, फिर भी जहाँ धूप उस पार गई कि जाड़े से थर-थर! चलना सैकड़ों कोस, और वह भी पैदल। स्वामीजी मैं तो बस, रोज डाक का इन्तजार करता हूँ कि कब हुक्म आये कि वापस आ जाओ और कनबल हूँ।"

जोशी इश्तहार की बात पर फिर आना चाहता था, पर सिपाही ने अपना दुखड़ा रोना शुरू कर दिया। बनारस के हिन्दू-मुस्लिम दंगे के समय उसने एक प्रोफेसर साहब से, खतरे से बचने की एक नई विधि सीखी थी। बाजार के समाचार लाने के लिए जब वे जाते थे, तो जहाँ पर देखते कि आपत्ति की आशंका है, लोग कानाफूसी कर रहे हैं और शायद उन पर भी हमला न कर दें, वे बजाय भाग निकलने के, खड़े हो जाते, और फिर वहीं झुककर अपने जूते के खुले फीतों को बाँधने का, अथवा पतलून की पलटी हुई किनारी के अन्दर जमा हुई गर्द को झाड़ने का बहाना करते और तब धीरे से, बड़ी धीमी-सी चाल से आगे बढ़ जाते। इसीलिए अब अपने इस छद्मवेश को सुरक्षित रखने में जोशी को पकड़े जाने का डर होता था। वह ठीक अपने डर के कारण ही का आश्रय लेता था। बस इश्तहार में अपना ही चित्र देखकर उसे जो भय हो गया था, उसे अब तक की इस बात-चीत ने दूर तो अवश्य कर दिया था, किन्तु अब उसी को अपने बचाव का भी कारण वह बना लेना चाहता था।

"अच्छा, तो कोई इसी पहाड़ के नेता हैं वे ?" जोशी ने कहा—"जिनके लिए यह सूचना निकली है। जरा मैं भी देख लूँ न, इस ओर के नेताओं का।"

"यहाँ खाने को अन्न नहीं मिलता। जंगली फलों के बीज और भेड़-बकरियों के गोश्त के अतिरिक्त यहाँ और होना ही क्या है, स्वामीजी !" सिपाही ने कहा—"जो यहाँ नेता लोग हों। वही नेहरू और महात्मा का नाम यहाँ भी सुनने में आता है।" और जेब से एक फट, मुड़े हुए कागज को निकालकर जोशी की ओर बढ़ाते हुए कहा—"यह लीजिए, वही इश्तहार है; पहले एक हजार था इनाम, अब पन्द्रह सौ हो गया है। सम्बीर एक ही है।

जोशी ने देखा। लिखा था—

एक हजार रुपये का इनाम

सरकार कैसरे-हिन्द ने इस मुलजिम को, जिसका फोटो दिया गया है, मरा या जिन्दा पकड़ कर लानेवाले या इस बाबत सही-सही सूचना देनेवाले को एक हजार रुपये का इनाम देना निश्चय किया है। मुलजिम और कैदियों के साथ...जेल से भाग निकला है। इससे पहिले वह बनारस में पढ़ता था। नाम, पूरा पता और हुलिया भी नीचे दिया गया है।

'सकूनत' और 'हुलिये' की पंक्तियों के बाद एक और पंक्ति इस आशय की थी।

अन्तिम बार मुलजिम हरद्वार में देखा गया है और वहाँ से उत्तर की ओर जाने की आशंका की जाती है।

इश्तहार को मोड़कर जोशी ने सिपाही को वापस कर दिया और दूकानदार के बढ़े हुये हाथ से चाय का गिलास थामकर एक घूँट पी लिया। तब सिपाही से कहा—"तो इसी मुलजिम की टोह में हो तुम लोग ?"

"असली काम तो यही था," सिपाही ने कहा—"पर और भी बेगार करनी पड़ रही है। एक शिकारी साहब आ रहे हैं। दफ्तर से हुक्म आया है कि डाक बँगले में उनके टिकने का मुकम्मिल इन्तजाम कर दो। अब साहब, यहाँ अपने ही रहने-ठहरने का तो प्रबन्ध नहीं है, उस पर इस 'मुकम्मिल इन्तजाम' का हुक्म। यह कोई हमारा अफसर है न कुछ। एक पल्टन का अमेरिकन गोरा है। कप्तान साहब ने बस लिख दिया कि इन्तजाम कर दो।"

"तुम लगे इन्तजाम में, और कहीं मौका पाकर मुलजिम निकल गया तो ?" जोशी ने कहा—"फिर इनाम से भी रह जाओगे।" "इनाम की ? इनाम की किसे चिन्ता है स्वामी जी, मैं तो यहाँ से निकल जाऊँ तो समझिये जान बच गई। इन पहाड़ों में अगर किसी को पकड़ भी लिया, तो कब भला मुझे वह जिन्दा रहने देगा ? धक्का भी देकर कोई इस तीन फुट की सड़क से नीचे गिरा दे तो पाँव टिकाने को जगह नहीं, सीधे गंगाजी में जाकर गिरें; पत्थरों पर टकरा कर बोटी-बोटी ऐसे अलग हो जायगी कि पता भी न चलेगा कि इधर कोई गिरा था।"

साथी ने उठकर कहा—"चलिएगा स्वामीजी, कि आज यहीं विश्राम कीजियेगा ?"

मन ही मन जोशी ने अपने ही से कहा—तू पुलिस से डरता तो नहीं है, दिवाकर; पर जो घृणा का भाव इनके प्रति है उसे जागृत रख। चल आगे ही चल, ऐसी जगह में रहना ठीक नहीं, और तब एक घूंट में बाकी चाय पीकर कहा—"चलो भाई, चलो, तुम तपोवन से मेरा साथ दे रहे हो। गुरुभाई हो। तुम्हारा साथ न छोड़ूंगा।"

"मुझे भी तीन मील आगे डाक बँगले तक जाना है।"—सिपाही ने अपना बेंत उठाते हुये कहा—"मैं भी चलूँगा स्वामी

जो, देस की ओर से एक भी यात्री आ जाय तो ऐसा मालूम होता कि मानो सगा भाई आ गया हो ।"

तीनों फिर गुलराना सड़क पर चल दिये ।

"तुम तो पहाड़ी भाषा बोल लेते हो" स्वामी ने कहा—"क्या यहाँ के रहनेवाले नहीं हो, जो देस जाने के लिये तरसते हो ?"

"बीस-बाईस वर्ष देस में नौकरी करते हो गया है, स्वामीजी !" सिपाही ने कहा—"बाल बच्चे वहीं है, पहाड़ अब मुझे अच्छा नहीं लगता । हाँ, रहनेवाला मैं इसी ओर का हूँ, अगर न होता तो शायद इधर भेजा भी न जाता ।"

"तो क्या ऐसे सुन्दर वनों, हिम से ढँके इन पहाड़ों और कल-कल करती हुई इन स्वच्छ नदियों के इस देश में जन्म लेकर"—स्वामी ने नील आकाश को पीठ लगाये उस विशाल पर्वत-राशि की ओर संकेत करके कहा—"इन तारों के भाँति छिटके हुये गाँवों में पैदा होकर तुम अपने को धन्य नहीं मानते ?"

"इससे क्या करें, साहब ?" सिपाही ने उदास होकर कहा—"घर का हाल अगर आप सुनें तो, तब इसके लिये कहें । भाई की दूकान थी सहेलपुर में, वहीं अब कुछ जमीन ले रक्खी है, वहीं मेरे बच्चे भी थे । एक महीना हुआ भाई को मुनाफाखोरी में सजा हो गई है, दो साल की । बच्चे रात-दिन रोकर काट रहे हैं । मुझे छुट्टी नहीं मिलती । आठ-दस दिन की मिल भी जाय, तो करूँ क्या ? रेल के स्टेशन तक जाने में ही पन्द्रह दिन लगते हैं । जुर्माना न दे सकने पर, अगर मकान भी नीलाम हो गया, तो फिर बच्चे उस परदेश में किसके घर जायँगे ।

"जुर्माना कैसा ?" जोशी ने पूछा ।

"दो साल की सजा और एक हजार जुर्माना हुआ है भाई को । सिर्फ एक पैसे के लिये । दो पैसे की दियासलाई की डिबिया

तीन पैसे में बेच दी थी; ये देखिये, साहब।" कहते हुये सिपाही ने एक और मुड़ा हुआ काग़ज़ चलते-चलते जोशी की ओर बढ़ा दिया। यह उसके गाँव से आई हुई चिट्ठी थी।

जोशी ने खोलकर उसे पढ़ा और पढ़कर यह सोचते हुये कि सचमुच मेरी कायर वृत्ति भी इतनी दुखमयी नहीं जितनी इस सच्चे सिपाही की। उसे फिर सिपाही को वापस दे दिया। अब तक जो घृणामिश्रित उपहास की भावना से उससे बातचीत हो रही थी, उसमें सच्ची समवेदना का भी पुट देते हुये कहना चाहा 'अगर आज तुमको वह भागा हुआ कांग्रेसी मुलाज़िम मिल जाय तो'...पर सहसा ज़बान पर आई हुई इस बात को जबरदस्ती अन्दर ढकेलकर वह बोला—"हाँ, सचमुच इस प्रदेश के सौंदर्य से ही तुम्हारा दुख हलका नहीं हो सकता। तुम्हें छुट्टी चाहिये, और फिर धन भी चाहिये।"

'कभी सोचता हूँ कि छोड़-छाड़ चल दूँ, पर फिर बच्चे खायेंगे क्या? चार-पाँच साल और काटकर जो पेंशन मिलने की आशा है वह भी जाती रहेगी।" चिट्ठी जेब में सँभालकर रख एक हाथ से उमड़े हुये आँसू पोछते हुये सिपाही ने कहा।

"यह भी तो सम्भव है।" स्वामी ने अब अपनी ही बात को पलट कर कहा—"कि कभी एकाएक वह मुलज़िम तुमको ऐसे ही मिल जाय तो, तब तुम्हारी दोनों समस्यायें सुलझ सकती हैं। घर भी जा सकते हो और जुर्माना भी अदा कर सकते हो।"

सिपाही यह बात सुनकर जोशी की ओर देखता रहा। यह बात इतनी सरल थी, फिर भी उसकी दूर-कल्पना में अब तक कभी उदित भी न हुई थी। उसने अपनी कल्पना में मानो इस दुर्देश में आकर, भविष्य की समस्त आशाओं को तिलांजलि-सी देकर मन में एक बुढ़ापा-सा एकत्रित कर लिया था। देस का घर

बाल-बच्चों की चिन्ता, जल्दी लौट जाने की आतुरता ही उसका उद्देश्य रह गया था और इन्हीं से सम्बन्धित विचारों को लौटफेर कर भुन-भुनाकर गुजर करके उसका मन कुछ और पाने की आशा ही न कर सका था। जोशी की यह बात देववाणी-सी उसे लगी और उसकी वह उज्ज्वल शान्त मुद्रा और स्थिर चक्षु, जिन्हें सिपाही के इस बार एकटक देखने पर भी जोशी ने फेरा नहीं, उसे सहसा एक नये प्रकाश-पुंज से उद्दीप्त जान पड़े।

सड़क अब और भी पतली हो गई थी और उत्तुंग दुर्गम पर्वत के बीचो-बीच करधनी की भाँति जा रही थी। दाईं ओर सैकड़ों फीट की गहराई में चट्टानों और वृहत्ताकार शिलाओं के ऊपर अविराम गर्जन करती हुई अलकनन्दा की फेनिल धारा भागी जा रही थी। और दूसरी ओर पर्वत की असीम ऊँचाई पर से लुढ़कती हुई छोटी-बड़ी गल-गल कर आनेवाले हिम की धारियाँ कहीं सड़क के ऊपर और कहीं 'नालियों' के नीचे से द्रुत वेग से उसी गहराई की ओर दौड़ रही थीं। सारे पहाड़ के विशाल विस्तार पर केवल इस सड़क के और कोई भी स्थान न था, जहाँ पर मनुष्य ने पदार्पण किया हो। नदी के उस पार तो पर्वत अपनी पुरातन स्वच्छन्दता का युगों से उपभोग कर रहा था। वहाँ न कभी कोई सड़क बनी थी और न कोई पद-चिह्न ही था। मानव जाति की लोलुपदृष्टि केवल जाकर वहाँ यदा-कदा ठिठक गई होगी, और अपनी असमर्थता पर उसे अवश्य दुख हुआ होगा कि इस पहाड़ पर मेरा प्रभुत्व न हो सका क्योंकि बहुमूल्य पहाड़ी बेंत के हरे जंगल मन्दाकिनी के किनारे से ही पहाड़ की आधी ऊँचाई तक उसे हरिताम्बर-सा पहिनाये हुए थे। सुगन्धमय देव-दार, सनोवर, सुरँई, फर और बर्फानी भोजपत्र के बाँस की तरह सीधे वृक्ष, जिनको आधुनिक वनस्पति शास्त्र-वेत्ता न तो अब तक

प्राप्त ही कर सके हैं और न कोई नाम ही दे सके है, वहाँ पर अनगिनत संख्या में पैदा होते है, अपनी सहस्रों वर्षों की पूर्ण आयु को समाप्त कर सूखते हैं, और फिर स्वेच्छा से अनेक सहस्र वर्ष में धराशायी होकर गंगा में समाधि ले लेते है। मनुष्य के पाद-स्पर्श से न तो उस पार की घास ही कभी कलुषित हुई है, न वे रंग-बिरंगे पुष्प। जिन्हें स्वयं नगाधिराज ने मानो शीत हिमसमीर की सहायता से गंगार्पण करने के हेतु अक्षत रक्खा हो।

पर्वत की एक और धार पार करके जो दृश्य सम्मुख आ उपस्थित हुआ वह और भी चित्ताकर्षक था। पहाड़ की सारी ऊँचाई मानो भिन्न-भिन्न वर्णों के वस्त्रों से आच्छादित थी। ठीक मंदाकिनी के किनारे से कुछ ऊँचाई तक देवदार और सुरई के त्रिभुजाकार कोण के आकार के घने जङ्गलों का एक बड़ा उद्यान-सा एक सीधी लकीर पर जाकर, जो नदी के समानान्तर चली गई थी, समाप्त हो गया था। उसके ऊपर फिर एक ओर हरी-हरी झाड़ियाँ, बेत के कुंजों का समुदाय, पर्वत की ठीक आधी ऊँचाई तक उसकी मण्डलाकार सारी परिधि को आच्छादित किये था। इससे भी ऊपर पर्वत के स्कंधों तक लाल घास का आवरण था, फिर काली-काली चट्टाने थीं, और उनसे भी ऊपर ठीक सिर के ऊपर दृष्टि उठाने पर हिमाच्छादित श्वेत शिखर थे, जो धूप से तप्त हिम पर उठते हुए वाष्पकणों के कारण इन्द्र-धनुष के से रंगों से रंजित कभी उज्ज्वल नील वर्ण के लगते थे, तो कभी सोने के रङ्ग से धुले हुए और कभी आग-सी दीप्तिमान लाल-लाल लपटों से। एक के उपरान्त दूसरा पर्वत का आवरण इस प्रकार एक दूसरे की ठीक सीध में चला गया था कि प्रकृति की इस चित्रकारी को देखकर एकटक देखते रहने की इच्छा होती थी। नग्न चट्टानों के बीच से पानी का एक उज्ज्वल स्रोत आकर सारे पर्वत

की लम्बाई को पारकर नीचे, सहस्रों फीट गहरी मन्दाकिनी में गिर रहा था। उस झरने की हवा में छिटकी हुई बूँदें, नदी के इस पार तैरती हुई आ रही थीं और सारी सड़क इस छिड़काव से भीगी हुई थी।

साथी ने कहा—"बिजली कम्पनी के इंजीनियर ने इस झरने को देखकर कहा था 'कि अगर केदारनाथ के पंडे और सरकार आधा खर्च दे दे तो इससे बिजली पैदा करके केदार-नाथ-धाम तक ले चलें'।"

जोशी इस प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर ऐसा मुग्ध-सा हुआ कि उसने साथी की इस अप्रासंगिक बात पर ध्यान भी न दिया। कहा— "आह, कितना सुन्दर दृश्य है! आओ, यहाँ पर कुछ देर बैठ जायँ।"

एक ओर पर्वत से गिरनेवाले निर्झर की धारा और दूसरी ओर समकोण पर आती हुई द्रुतगामी मन्दाकिनी, दोनों के सम्मेलन का प्रचंड वज्र घोष, उस सारी घाटी के वृक्षों को कम्पायमान कर रहा था। उसी स्थान पर बादल का एक छोटासा टुकड़ा, मानों इस चिर पुनीत और चिर नवीन सम्मेलन का आवरण सा तैर रहा था, जो एका-एक हवा के झोके से निर्झर के मार्ग-परिवर्तन के कारण कभी टूट कर दो-तीन टुकड़ों में बँट जाता था और फिर सहसा जुड़कर एक हो जाता था। जोशी देर तक नदी, निर्झर, पर्वत और बादल की यह क्रीड़ा देखता रहा। बेंत की कई लताएँ अपना स्वाभाविक ऊर्द्धमुखी मार्ग छोड़कर इस प्रपात के साथ नतोमुख होकर नदी तक चली आई थीं। क्षण क्षण हवा के झोंकों से झरने का मार्ग बदल जाने से, उनके अंग चट्टानों पर टकरा कर चपटे हो गये थे। प्रकृति की यह अभूतपूर्व गहन-घोर गर्जना ने जोशी के कानों में गूँजकर उसके तमाम स्नायुओं को आलोड़ित कर उसके

शरीर में भी एक अद्भुत घरघराहट उत्पन्न कर दी। उसे ऐसा भास हुआ कि मानो उसका सारा स्थूल शरीर इस घरघराहट में चूर्ण होकर केवल शब्दमय रह गया। देर तक वह लताओं को, दोनों तीव्र धाराओं को और उनके वाष्पमय उस सम्मेलन को और वहाँ पर दौड़कर उड़नेवाली लाल पीली चहचहाती हुई पहाड़ी चिड़ियों को जो एकाएक भागकर आतीं और उस झरने के चारों ओर फैले वाष्पकणों की धुंध में क्षण भर टिक कर फिर चहचहाती उड़ जातीं, देखता रहा। कुछ इस एकटक देखने से और कुछ उस शीत वाष्प से, जो इस ओर भी अदृश्य रूप में आकर अपनी अविराम क्रीड़ा करना न चूक रही थी, जोशी की आँखों में आँसू भर आये। यह सारा दृश्य, गंगा का निर्झर-मिश्रित यह प्रवाह बाढ़ की तरह, जीवन और मृत्यु को लाँघ जानेवाली, उस तरंग-सा उसे ज्ञात हुआ, जिसमें बहकर न कुछ संचय की अभिलाषा रहती है और न कुछ खो देने का पश्चात्ताप। सुख की इस अनुभूति में लग्न वह एकदम परम आनन्द से निःशेष हो गया। सोचने लगा उस साधु की बात का जिसने तपोवन में, ऋषिकेश से दो मील और ऊपर, उसे दीक्षा दी थी। उस दीक्षा को उसने उस समय कौतूहलपूर्ण उपहास में स्वीकार किया था, पर अब वही उसे सच जान पड़ी और सब मिथ्या। उसने कहा था—प्रकृति अविनाशमय अनन्त है, उसे 'सत्' कहते हैं। जीव, प्रकृति के गुण रखता हुआ भी चैतन्य है, उसे 'सत् चित्' कहते हैं और ईश्वर प्रकृति और जीव दोनों के गुणों से युक्त एक और भी गुण रखता है वह है 'आनन्द'। इसीलिये उसे 'सच्चिदानन्द कहा गया है। वह सोचने लगा—'आह! यही आनन्द जीवन का लक्ष्य है। इसी आनन्द की अनुभूति में शंकराचार्य ने शायद ऐसे ही आनन्दपूर्ण स्थान में अपने को गंगा के अर्पण किया होगा। और मैं

ऐसे पावन स्थान में आकर ऐसा मिथ्या जीवन व्यतीत कर रहा हूँ। इस आनन्द को, प्रकृति के इस अलक्ष्य सौन्दर्य को, मानो मैं सच्चे हृदय से ग्रहण भी नहीं कर रहा हूँ क्योंकि 'जो कुछ मैं हूँ वह और कोई जान न पावे' ऐसी भावना से एक मिथ्यावरण मुझे सदा पाप की कालिमा से घेरे रहता है। इसकी अवधि नहीं। न जाने कब तक मुझे इसी प्रकार कालिमा के अन्दर ऐसा कलुषित जीवन बिताना पड़ेगा। इस अदृश्य अवधि तक जहाँ दूर दृष्टि भी नहीं जाती, सब शून्य है। किसीसे मेरा किसी दिन भी सच्चा प्रयोजन न होगा, कुछ भी मेरा किसी के काम न आयगा।'

उसे अपने छद्म वेश की व्यर्थता स्पष्टता से अधिक व्यक्त जान पड़ी। अब तक वह एक थके बालक की भाँति सारी योजना के अन्त की आशा में था कि कब मेरी मजदूरी का कठिन दिन समाप्त हो, कब शाम हो और कब मैं शान्त चित्त से किनारे की ओर जाकर अनन्त रात्रि की सुखमय नींद की आशा में बैठा रहूँ। पर अब मानो सब समाप्त हो गया। एक अविरल इच्छा का ध्यान-मात्र ही अब उसकी स्थिति बन गई और स्थिर शरीर के अन्तराल में सत्य की ही पवित्र ज्योति को जीवित रखने के लिए ही आत्मा पात्र-मात्र रह गई।

आँसुओं से डबडबाती आँखों के सामने अब सब धुन्ध हो गया। उसने फिर सोचा—'जोशी फिर तू इस बात का दम्भ करता है कि जेल से बचकर आने में, और अब इस कलुषित जीवन और इस यायावर वृत्ति में तूने झूठ का आश्रय नहीं लिया। यह तेरा मिथ्या अभिमान है कि तू सच ही बोलकर छूटा और सच ही बोलकर अब तक मुक्त है। जेल के फाटक पर अवश्य तूने कहा था कि तू दिवाकर को छुड़ाने गया था, और हरद्वार में भी उस रेल के थानेदार से तूने अपना व्यक्तित्व नहीं छिपाया। पर

जब तेरा सारा, अबतक का जीवन ही मिथ्या पर अवलम्बित है तो उसमें सत्य को स्थान ही कहाँ ? सारी क्रियाएँ, जब एक इस सत्य को छिपाने के लिए कि तू अभियुक्त है और जेल से भागकर आया है, हुई हैं तो फिर सत्य बोलने का दम्भ तू करता ही क्यों है ?"

दुपट्टे से उसने अपना सारा चेहरा पोंछा और थकी हुई आँखों को निर्झर से हटाकर सिपाही की ओर देखकर कहा—"लो, मैं हूँ वह दिवाकर चिन्तामणि, कांग्रेसी अभियुक्त जिसके लिए पन्द्रह सौ रुपये का पुरस्कार सरकार ने घोषित किया है। तुम अब चाहो तो मुझे ऐसे ही गिरफ्तार कर लो। अगर तुम्हें डर हो कि अकेले निर्जन पहाड़ पर सड़क से ढकेलकर मैं तुम्हें अलकनन्दा में गिरा दूँगा, तो इसी शिला से मुझे तुम्हीं नीचे गिरा दो। तब तुम अपने साथियों की सहायता से इस मृत शरीर को भी ले जा सकते हो और पुरस्कार पाकर, अपना दुःख निवारण कर सकते हो।"

सिपाही किंकर्तव्य विमूढ़-सा खड़ा रहा, फिर क्षीण स्वर में उसने कहा—"चलो, लौट चलें।"

१९

दारोगा की द्विविधा

छबीलेलाल ने दबी हुई जबान से अपनी बात समाप्त की और मेज पर रक्खे हुये पाँच नोट सौ सौ रुपये के कलमदान के नीचे खिसका दिये और दारोगा जी की ओर भी भीत-शुष्क नेत्रों से देखने लगे कि अब क्या हुक्म होता है।

दारोगा मातबर सिंह ने दोनों हाथ ब्रीचेज की जेब में डाल कर अपनी पीठ कुरसी पर गिरा सी दी, टाँगों को बिलकुल सीधा करके जूतों की एड़ियों को जोर से मेज के नीचेवाली फर्श के समानान्तर पड़ी हुई लकड़ी पर दबाया और आँखें मूँद लीं। इतनी बड़ी रकम आज पहिली बार उनको रिश्वत में देने के लिये एक आदमी आया है। यह छबीलेलाल, राजाराम मारवाड़ी का मुनीम है। एक बार छबीलेलाल, की सारी बातों को दारोगा मातबरसिंह ने उसी अवस्था में लेटे-लेटे मन ही मन दुहराया—'हुजूर, रिपोर्ट अभी आपने भेजी न होगी। लालाजी ने कहा है कि उनका नाम इस मामले से बिलकुल अलग कर दिया जाय। सारी लिखा पढ़ी मुंशी अम्बिका प्रसाद ने की थी, वही स्टेशन पर बिलटी बनवाने गये थे। बीजक पर उन्हीं के दस्तखत हैं, इसलिये सिर्फ उन्हीं के ऊपर डी० आई० आर० का मामला चलाया जाय। और

इस कृपा के लिये लालाजी ने हुजूर की खिदमत में मुझे भेजा है और यह पाँच सौ रुपये नजर हैं।'

सारा सुझाव इतना सरल और स्पष्ट था। अभी थाने के साधारण रोजनामचे में भी 'इब्तदाई रपट' दर्ज नहीं हुई थी। लाला राजाराम के ऊपर वैसे भी कोई विशेष संगीन मामला बन नहीं सकता था। फिर भी दारोगा मालवर सिंह ने कुछ न कहा। घोर उत्तेजना के एक प्रकम्पने उनकी सारी भावनाओं को आलोड़ित कर दिया। क्षणभर के लिये उन्हें ऐसा लगा कि यह सच नहीं, यह सब स्वप्न है। अपनी रोज की दिनचर्या के उपरान्त पवित्र जीवन व्यतीत करने के जिस संकल्प का आसरा लेकर वह रोज रात को अपने बिस्तर पर लेटते थे, ऐसे ही आज भी बिस्तर पर लेटे, और लग लेटते ही यह स्वप्न उन्होंने देखा। छबीलेलाल स्वप्न में उनकी परीक्षा लेने आया है।...पर मुँदी हुई आँखों की पलकों के उस पार लालटेन की रोशनी स्पष्टतया रक्तिम वर्ण की दीख पड़ती थी। छबीलेलाल की लम्बी साँसें सुनाई दे रही थीं। तभी एकाएक क्षण भर की इस अस्त-व्यस्तता से संयत होकर मालवर-सिंह एकाएक खड़े हो गये। उन्हें ऐसा लगा कि मस्तिष्क में विचार-शक्ति की सभी 'स्प्रिंगें' किसी ने नोच दी हैं, जिससे सारा ज्ञान-कोष, सभी ज्ञानतन्तु अव्यवस्थित होकर ढहती हुई अट्टालिका की भाँति लड़खड़ाकर गिर पड़ा हो। अब कुछ सोचने समझने का बोध तक उन्हें न रहा। ग्यारह महीने से थानेदारी करते थे और सदा इसी विचार को मन में लेकर कि 'पुलिस की नौकरी कर रहा हूँ और करूँगा। पर यह एक आदर्श नौकरी होगी; यह मेरे जीवन का प्रकाश होगी। मेरा इस जीवन के साथ सम्बन्ध बिलकुल स्पष्ट होगा। पुलीस के महकमे की परम्परागत दुरा-चारिता के ख्याल से लोग भी कहते हैं कि मैं इस नौकरी के योग्य

नहीं। इसमें लम्पट चालाक, और कूटनीतिज्ञ ही सफल हो सकते हैं। मैं इन सबसे भिन्न हूँ, और यद्यपि लम्पट और चालाक हो जाना सफलता की निशानी है, फिर भी मैं अपनी पवित्रता को कभी दूषित न होने दूँगा। इस प्रकार का विचार, कि मैं कभी रिश्वत लूँगा अथवा अपनी शक्ति का दुरुपयोग कर अनुचित लाभ उठाऊँगा, मेरे उद्देश्य को नष्ट कर देगा। ऐसा कभी हो नहीं सकता। वास्तव में व्यावहारिक जगत में मेरे जीवन का ध्येय ही कुछ और है।'

कमरे में उसी प्रकार छबीलेलाल की स्थिति की पूर्ण अवहेलना करते हुए दारोगा मातबर सिंह ने बार-बार आँखों को मूँदा और खोला और मन ही मन कहा—'अपूर्ण के पीछे पूर्ण का अस्तित्व रहता है। एक नये आविष्कार के लिये अनेकों साधारण वस्तुओं का निरीक्षण आवश्यकीय है। असाधारण वस्तु सचमुच साधारण वस्तुओं के समूह में प्राप्त होती है और जीवन की एक अभूतपूर्व हर्षातिरेक घटना भी अनेक साधारण जीवन के साधारण दिनों की अनगिनत घटनाओं के उपरान्त प्रोज्ज्वल होती है। अब आज भी छबीलेलाल की यह पाँच सौ की नजर मेरी परीक्षा की वही घड़ी है, जिसकी प्रतिमूर्त्ति मेरे मस्तिष्क में मँडराया करती थी। आज अचानक मेरे सामने खड़ी है।'

ब्रीचेज की जेब से दोनों हाथ निकालकर वे फिर कुर्सी पर बैठ गये। स्मृति पटल पर अचानक जो कुहरा छा गया था अब साफ हो गया और अपनी स्वाभाविक ओजस्विनी भाषा में दारोगा मातबर सिंह ने कहा—'मुनीमजी, आप जाइये। यह रुपया भी ले जाइये। मेरे स्वभाव से आप परिचित ही हैं, फिर भी आपने यह प्रलोभन मुझे देना चाहा।' मारे डर के मुनीमजी की मुद्रा रक्तहीन शुष्क हो गई। थोड़ी देर बाद दारोगाजी ने

फिर दृढ़ निश्चित मुद्रा में मुस्कराते हुए कहा—"मैं उन पुराने दारोगाओं में से नहीं हूँ। आप मातबर सिंह को अपना धर्म बेचते न पायेंगे, और अपनी पूँजी से उसे प्रलोभन न दे सकेंगे। जाइये, यह पाँचों टुकड़े उठाकर यहाँ से फौरन निकल जाइये। मैं इतनी मेहरबानी आपके ऊपर किये देता हूँ कि किसी सरकारी अफसर के घर जाकर उसे रिश्वत देने का मुकदमा चलाकर आपको परेशान नहीं करना चाहता। नहीं तो भला, आपकी यह मजाल?"

तब अपनी वक्तृता के जोश में वे एकाएक कुर्सी से उछल पड़े और छबीलेलाल इसका दूसरा ही अर्थ लगाकर, कि हो न हो अब देर करने से इन लम्बे सुडौल हाथों की मार न खानी पड़े, अस्पष्ट शब्दों में भिनभिनाते हुये, जल्दी से कलमदान के नीचे से पाँचों नोट खींचकर निकल भागे।

दारोगा मातबरसिंह भी उसी समय अपने दफ्तर से उठकर क्वार्टर के उस ओर आँगन में पड़ी चारपाई पर चित लेट गये। कठिन विजय के उपरान्त की मीठी-सी शिथिलता अब भी उनके सारे शरीर में व्याप्त थी, पर शान्त सुखमय पवित्र जीवन व्यतीत करने का वह विचार आज एक पुरानी साख की तरह दृढ़ रूप धारण कर चुका था। उन्हें ऐसा ज्ञात हुआ कि अब प्रबल आँधी में भी यह साख न टूटेगी। अब इस साख पर से और भी अनेक नये विचार कोपलों की भाँति उगेंगे जो इस साख को न केवल सुदृढ़तर बना देंगे, अपितु अपनी सुकुमारिता और सुन्दरता के आभरण से इस शुष्क जीवन को सरस और मनोहर बना देंगे।

× × ×

दारोगा मातबर सिंह की रिश्वत के प्रति घोर घृणा बालू में छिपे स्वर्ण-कणों की भाँति व्याप्त किन्तु अदृश्य थी। दुःख और अशान्ति के समय उन्हें बालू ही बालू-सा नीरस-शुष्क-सा अपना

जीवन लगता था। पर कभी-कभी उन स्वर्ण कणों पर दृष्टि पड़ते ही उनका हृदय नाच उठता था, पर उन्हें अपने दैनिक जीवन के सम्पर्क में आनेवाले व्यक्तियों के व्यवहार से जान पड़ा कि ज्यों-ज्यों वे अपने उस आदर्श जीवन के निकट पहुँचने का प्रयत्न करते हैं, उतना ही वे अप्रिय और अनजान समझे जाते हैं। जिस प्रकार किसी वस्तु का रंग वही कहा जाता है, जिसका तिरस्कार वह प्रकाश तरंगों के पड़ने से करती हैं न कि उसे, जिसे वह अपने में समा लेती है। इसी प्रकार लोग, उनके साथी थानेदार, और मैजिस्ट्रेट भी उनके बाह्य गुणों से, उनकी ऋणात्मक दिशाओं से, उन्हें पहिचानने लगे कि यह अनोखा दारोगा कैसा सनकी, कैसा अस्वाभाविक और कैसा अव्यावहारिक है। उनकी निष्कपट सचाई के कारण, चालानी मुकदमे छूट जाते और उनकी सचाई ही कानून की दाँव-पेंच के बीच उन्हीं के उपहास का कारण बन जाती।

एक ऐसे ही मुकदमे की पैरवी में वे उस रोज सदर गये थे। पर गवाहों ने साथ नहीं दिया और न्यायाधीश ने सारी घटना को 'असत्य और असम्भव' ठहरा कर अपराधी को मुक्त कर दिया। दारोगा मानसर सिंह ने फैसले को सुना, सिर पर चढ़ी अपनी झब्बेदार पगड़ी से पैर पर कसे हुये बूट तक एक बार अपने ही ऊपर दृष्टि डाली, असमर्थतापूर्ण एक उच्छ्वास-सा लेकर मन ही मन कहा—'इतना सच्चा मुकदमा, तिलभर भी नमक-मिर्च न मिलाया था और अन्त में यह फैसला! अब्दुल शकूर का वह मुकदमा, जिसमें मौके का कोई भी गवाह न था, कल सजा पा गया। चौधरी उमराव सिंह का वह एक सौ नौ वाला मुकदमा, जिसमें मुलजिम को घर से पकड़ कर लाये थे और दिखलाया था मिल के पीछे, एक साल की सजा पा गया, और मेरा यह सच्चा मामला असत्य और असम्भव हो गया।'

उस चमचमाती वर्दी के अन्दर स्वयं अपने को उस घृणित अपराधी से भी, जो अभी तक कटघरे में खड़ा था, अधिक घृणित सा सोचते हुये विजित सैनिक से वे इन्हीं विचारों में उलझे पुलीस क्लब पहुँचे। पगड़ी उतार कर मेज पर रख दी, वर्दी फेंक कर साफ कपड़े पहिन लिये और दूसरे कमरे में जहाँ अपने-अपने चालानी मुकदमों की पैरवी करने को सदर आये हुये थानेदार लोग चाय पी रहे थे, पहुँच गये।

"छूट गया होगा मुकदमा ?" अब्दुल गनी दारोगा ने कहा।

"अजी, तुम ऐसे कमजोर मामले भेजते ही क्यों हो जो यहाँ आकर छूट जाय ?" शकूर ने कहा।

"चाय तो पी लेने दो लड़के को।" रणजीतसिंह ने कहा - "मुझे इस लौंडे पर तरस आता है। अभी लड़का ही तो है। बेटा, इधर तो आ।"

मातबर सिंह ने सोचा था कि शाम को क्लब में रहूँगा और कल अपने थाने को, जो सदर से तीन स्टेशन आगे था, लौट जाऊँगा। सुबह लौटने से पहिले कप्तान साहब को सलाम भी कर लूँगा, पर क्लब की बातचीत से उनके शरीर में आग-सी लग गई। पुलीस की नौकरी करते उन्हें अभी केवल एक वर्ष बीता है, और सबसे असह्य बात जो उन्हें लगती है वह है इन पुराने थानेदारों का उन्हें लौंडा या लड़का कहकर पुकारना। आज लगभग सभी थानों के दारोगा लोग सदर आये हुये थे। सारा क्लब उन्हीं से भरा था इसीलिये उन्होंने लौट चलने का निश्चय करके इक्का बुला लिया।

'अगर मेरी मातहती में'-गनी बोला-"यह लड़का एक महीना भी रह जाये, तो ऐसा बना दूँ इसे कि क्या मजाल जो डिप्टी लोगों को इसके चालानी मुकदमों को छोड़ने की हिम्मत हो जाय।"

"और तभी तो तुम्हारा वह तीन सौ दो का मुकद्दमा छूट गया।" रणजीत ने कहा।

कोतवाल शेरसिंह, जो अब तक चुप था, चाय की प्याली मेज पर रखकर पीछे कुर्सी पर गिर-सा गया और पतलून की जेब में व्यर्थ सिगरेट ढूँढ़ने के लिये हाथ डालकर बोला—"ओह! उस मुकद्दमे की बात कर रहे हो, उस तीन सौ दो की? इसकी चाल थी कि चालान भी कर दिया और छुड़वा भी लिया। साँप भी मर गया और लाठी भी न टूटी। तुम जानते नहीं रणजीत मियाँ—यह किस पैंतरे का आदमी है।"

"रिश्वत ली है, लेता हूँ और लूँगा।" गनी ने सिगरेट को तश्तरी में झाड़ते हुये कहा—"और इसी की बदौलत ठाठ की अफसर-इनचार्जी करता हूँ। रोब है सारे इलाके में। कभी हुई है डकैती या खुराफात मेरे थाने में? और एक इस लौंडे को देखो। मातबर सिंह, तुम जब तक पाक-साफ रहोगे कभी तरक्की नहीं कर सकते। मैंने पहिले भी कह दिया था और आज फिर कहता हूँ।"

मातबर सिंह ने चाय की घूँट पीकर लजाई हुई आँखों से इस वक्ता की ओर देखकर मन ही मन कहा—'सच है, पर नहीं तुम और हो, ये सब और जीव हैं। मैं रिश्वत नहीं लूँगा, नहीं लूँगा।' और इस संकल्प की पुष्टि के लिये जो तर्क कई बार उनके मस्तिष्क में पहिले भी आया था वही फिर एक बार आया कि 'मैं इन अल्प-शिक्षित दारोगाओं से कहीं अधिक शिक्षित और सभ्य हूँ। उर्दू मिडिल या इण्ट्रेंस तक अंग्रेजी पढ़े इन थानेदारों और मुझमें अवश्य अन्तर है। एम० ए०, एल-एल० बी० करने पर भी यदि मैं उसी अन्धेर का अपना ध्येय बना लूँ, तो मेरी इतनी शिक्षा व्यर्थ ही तो होगी।'

गनी की आवेगपूर्ण वक्तृता से उनका ध्यान-मग्न हो गया।

अब वह और भी वास्तविकता पर आ गया था। कह रहा था—"अच्छा मातबर सिंह, सच बतलाना, तुम्हारे साथ जब तुम इस मुकद्दमे की गिरफ्तारी के लिये गये थे, तो क्या कोई पुराना कान्स्टेबिल नहीं गया था? पुराने सिपाही तुम्हारे साथ कभी तलाशी या तफतीश में नहीं आते। जानते हो क्यों? उन्हें न तो मुलजिम के जमानत पर छूटने पर उसकी ओर से एक एक रुपया मिलता है और न राजीनामा होने पर अपने 'हक' के पाँच रुपये ही वे वसूल कर पाते हैं। कोई अपना ही जैसा रंगरूट सिपाही तुमने साथ किया होगा, जो न तो इलाके को जानता होगा न वहाँ पर आरागारा में रहने वाले 'पेटेंट' गवाहों को। पास-पड़ोस के दो मुअजिज गवाहों को, जैसा कि तुमने अपनी जाब्ता फौजदारी की किताब में पढ़ा है, वह रंगरूट सबूत के लिये ले आया होगा। बस, उन्हीं ईमानदार 'मुअजिज' लोगों ने आज सबूत पक्ष के गवाह बनकर भी मुलजिम का पक्ष लिया है, कि नहीं यही बात?

मातबरसिंह चाय पीते रहे। उन्होंने 'हाँ' या 'ना' कुछ भी नहीं कहा। पर वे ही नहीं और भी सब थानेदार सोचने लगे कि सचमुच बिना पुलीस के साझीदार जाने-बूझे गवाहों के कोई मुकद्दमा सफल नहीं हो सकता।

नौकर ने कहा—"इक्का आ गया", और मातबर सिंह इस असह्य प्रसंग से बचकर निकल आये। जाते समय सबको सम्बोधित करते हुये उन्होंने अभिवादन किया। प्रत्युत्तर में किसी ने केवल मुस्करा दिया, तो किसी ने सिर जरा-सा नीचे की ओर हिला दिया तो कोई केवल उन्हें देखता ही रहा, पर रानी ने खड़े होकर हाथ मिलाने का उपक्रम किया और जोर से कहा—"तस्लीमात-अर्ज, लड़के, खुदा तुमको जल्द अक्ल दे।"

× × ×

'ठीक है, ठीक है, गनी तेरा कहना ठीक है। पुराने अनुभवी सिपाही कभी मेरे साथ चलने को तैयार नहीं होते। उस रोज इसी मुकदमे की छानबीन के लिये मुझे उस गाँव में जाना था।' मातवर सिंह ड्योढ़े दर्जे की एक सीट पर बैठे सोचने लगे—'बड़े दारोगाजी ने कहा था कि चार सिपाही के साथ नायब साहब तफ़तीश में चले जाओ' पर घण्टे भर में जब थाने की डायरी में रवानगी लिखने का समय आया तो सबके सब न जाने कहाँ चले गये थे। मुंशीजी से मालूम हुआ कि रामऔतार सदर का रवाना हो गया एक जरूरी दस्ती डाक लेकर। माधो-प्रसाद एक चौकीदार के साथ किसी एक सौ नौ के मुकदमे की टोह में चल दिया है। बड़े दारोगाजी ने उसे कल फटकारा था कि तीन महीने से कोई ऐसा मुकदमा नहीं चालान हुआ है। और दो सिपाही गश्त से अभी लौटे ही नहीं। जमील मियाँ पहरे पर हैं। बाकी सत्तार और दुखिया है, और तब इन्हीं दो नये सिपाहियों को लेकर मैं गया। दोनों में से कोई भी उस गाँव में पहले कभी नहीं गया था। पास के गाँव के चौकीदार को रास्ते से बुलाया था। दारोगाजी का नाम सुनकर वह अपनी लाल पगड़ी बाँधे आ गया था, पर जब उसने देखा कि दारोगाजी नहीं नायब साहब हैं तो कराहने लगा—'साहब जूड़ी आती है; शाम तक लौट न सकूँगा। अभी से हरारत मालूम होती है।' कोई पुराना सिपाही साथ होता तो एक धौल जमाकर उसी समय कहता—"चलबे, जूड़ी के बच्चे। इक्के के पीछे दौड़ता हुआ चल, बहानेबाजी करता है! चलेगा कि जमाऊँ एक थप्पड़।" पर सत्तार और दुखिया दोनों मेरी ओर देखने लगे कि अब इस पाजी के लिये क्या हुक्म होता है। मैं इन दोनों के होते हुए उसे भला क्यों गाली देता और जब कि मुझे अभी तक गाली देना अच्छी

तरह आया ही नहीं है और खासकर इस प्रकार की भाषा में जो कि इन पूरब के जिलों में गाली देने के लिये प्रयुक्त की जाती है। मैंने फिर सत्तार और दुखिया की ओर देखा कि ये ही कहें कि रास्ता हमारा जाना हुआ नहीं है तुम्हें चलना ही पड़ेगा। पर इन दोनों के दिमाग में उस समय ऐसा कुछ भी ध्यान न रहा। दारोगाजी के साथ चले हैं और वे ही सब कुछ कर लेंगे, ऐसी निश्चिन्तता का भाव इनके चेहरों पर था। एक अपने जूते की चुभने वाली कील का वहीं एक ईंट के टुकड़े से ठोकने लगा, और दूसरा पास वाले खेत से हरे चने उखाड़ने लग गया। अन्त में मुझे ही कहना पड़ा—"चल चल, दूर तो है नहीं। रास्ता भी तो हममें से कोई नहीं जानता उस गाँव का।" "नहीं हुजूर लौट न सकूँगा और रास्ता बतलाने के लिये, मैं अपने लड़के को अभी भेज देता हूँ। वह गाँव में पंछी-पंछी को जानता है।" ऐसा उसने कहा था। "अच्छा हट, उसी को भेज, जल्दी से भेजना।" कह कर मैंने उसे विदा किया था। तब उसके लंगड़े लड़के को इक्के वाले के पास बैठाकर हम उस गाँव पहुँचे थे। मुखिया और इक्के वाले को गवाही में लिखवाया था। आज दोनों के दोनों अदालत में उस घटना की सत्यता को अस्वीकार कर गये। कह रहे थे कि इक्के में चलते-चलते गाँव में हमको बुलाकर नायब दारोगाजी ने अँगूठा लगवा लिया।'

गाड़ी चलने लगी और चलते-चलते उसी ड्योढ़े डिब्बे में रघुराज सिंह भी उछलकर चढ़ गया।

"जै रामजी की, दारोगाजी!" मुस्कराते हुये उसने कहा और दारोगा मातवर सिंह को उस मुस्कराहट में अपने प्रति एक कुत्सा-पूर्ण उपहास का स्पष्ट आभास मिला।

"दारोगाजी अब भी क्या वह सफरखर्च न मिलेगा।"

रघुराज सिंह ने उसी प्रकार एक व्यंग्य करते हुये प्रश्न किया।

दारोगा मातबर सिंह ने एक बार आँख उठाकर उसकी ओर देखा। क्रोध का एक उफान आकर उनके कण्ठ को अवरुद्ध-सा कर गया। वे कुछ बोले नहीं, पर रघुराज ने ताड़ लिया कि सचमुच नायब दारोगा मेरे प्रश्न से चिढ़-सा गया है।

अपनी जेब से छालियों का बटुआ निकाल कर धीरे से थोड़ी-सी छालियाँ हथेली पर फैलाकर, अपने पान से भरे मुँह में, रघुराज ने कटी हुई छालियों को उछालकर डाल लिया। कत्थे और चूने से भरी उस सफेद डिबिया को फिर दूसरी जेब से निकाल-कर उँगली पर थोड़ा-सा चूना पोंछकर उसे भी चाट लिया। तब दारोगाजी को और चिढ़ाने के अभिप्राय से उसने कहा—"अच्छी गवाही रही, नायब साहब! पास से पैसा खर्च किया और उस पर भी यह जिल्लत! हुँ, इससे तो यही अच्छा था कि दस रुपये मैं उसीसे ले लेता। मुलजिम की माँ आई थी कोठी पर और दस रुपये का नोट..." रघुराज सिंह ने इतना कहकर जुगाली-सी शान की ली, उठकर लार का एक बड़ा-सा घूँट डिब्बे के बाहर मुँह निकाल कर थूका, जिसके एक-दो छींटे दारोगाजी की सफेद कमीज पर भी, ट्रेनकी तेज चाल के साथ, खलती हुई हवा के कारण गिर गये।

रघुराज ने कहा—"दस रुपये का नोट ला रही थी। कहती थी कि ठाकुर साहब आप घर बैठे रहिये; गवाही न जाइये। ये दस रुपये आपकी पान-सुपारी के लिये लाई हूँ।"

रघुराज सिंह सिरसावे के ताल्लुकेदार का लड़का था। सारे इलाके के लोग जानते थे कि वह ठाकुर की असली ब्याहता का लड़का नहीं, एक कहारिन से पैदा है। मातबर सिंह ने एक गवाही में उसे रख लिया था। क्योंकि सिपाहियों ने कहा था कि इसकी

गवाही ऐसी होती है कि बड़े-बड़े भी वकील इसे नहीं 'तोड़' सकते। तब तक उनको मालूम न था कि यह ठाकुर साहब का नाजायज बेटा है।

मुकदमे की पेशी के दिन जब अदालत से सफर-खर्च मिला, तो इसने लेनसे इनकार कर दिया; क्योंकि अहलमद ने तीसरे दर्जे का किराया और दो आने 'खोराक' के दिलवाये थे। रघुराज-सिंह ड्योढ़े दर्जे का किराया, बारह आने तांगे के और एक रुपया 'खोराक' के माँगता था। हैसियत के मुताबिक उसके कथनानुसार यही उसको मिलना चाहिए था।

दारोगा मातबरसिंह ने उत्तर में कुछ कहने की इच्छा की। रघुराज की ओर मुंह फेर कर देखा, मुंह खोला, पर क्रोध की असह्य वेदना से निश्चेष्ट भाव से उसकी ओर देखते रहे, कुछ कह न सके।

रघुराज ने मानो और चिढ़ाते हुये कहा—"अजी, भला अहलमद देता भी क्यों, उस रोज पेशी की तारीख बढ़ाने के लिये 'हक' भी तो आप मुलजिम से उसे दिला न सके। पड़े दारोगा जी के साथ भी तो गवाही देने गया हूँ। कभी सेकेण्ड क्लास से कम का किराया उससे (अहलमद से) नहीं दिलवाया मुझे। बात क्या थी, कुछ नहीं। दारोगा जी ने मेरी ओर आँख मार कर इशारा किया, मैंने मुलजिम (और एक निरे अश्लील विशेषण को मुलजिम शब्द के साथ जोड़ कर उसने कहा) से पाँच रुपये पेशी की तारीख सुनवाने के दिलवा दिये अहलमद को। दारोगा जी के कहने पर उसने दूसरे दर्जे का किराया बनवा कर मुझे फौरन दिलवा दिया। दारोगा हो तो ऐसे, जैसे हैं कोतवाल शेरसिंह...।"

मातबरसिंह सोच रहे थे कि अनन्त क्रोध की इस असह्य

वेदना से छुटकारा पाने के लिये अब कुछ कहना आवश्यक है। पर क्या कहें, यह स्वयं उनकी समझ में नहीं आ रहा था। वह जो कुछ कहना चाहते थे वह बड़ा ही भीषण था। सहसा बर्थ पर पड़ी अपनी पगड़ी को ऊपर सँभालने का बहाना करते हुये मातबरसिंह ने अपने ही से फिर कहा—'नहीं, नहीं, नहीं, उसके विचार भी, मातबरसिंह, तेरी कल्पनाओं तक नहीं पहुँच पाते, तब उसकी बात की भला तेरे व्यक्तित्व तक कहाँ पहुँच? तू उसे बकने दे।' और अब सुस्थिर हो वे रघुराज की स्थिति की पूर्ण अवहेलना करते हुये अखबार निकालकर पढ़ने लग गये।

× × ×

एक सप्ताह के बाद दारोगा मातबरसिंह अपने घोड़े पर सवार होकर सिरसा की ओर गश्त में गये। पिछले सात दिन थाने से बाहर जाना सम्भव न हो सका था, क्योंकि कप्तान पुलीस ने आकर थाने का मुआइना किया था। बड़े दारोगा छुट्टी पर थे, सारा प्रबन्ध मातबरसिंह के मत्थे आ पड़ा था। यह पहला ही अवसर था कि एक अफसर के मुआइने में, कितनी सतर्कता और सूझ की आवश्यकता पड़ती है, इसका अनुभव उनको हुआ था, पर और सब बातों के उपरान्त मिस्टर हाउण्ड के उस बिल की बात उन्हें अब भी खटक रही थी। साहब के आने से एक दिन पहले से बँगले में कोयला, लकड़ी, अण्डा, गोश्त आदि का सब प्रबन्ध करना पड़ा था। फिर दूध, मक्खन, ह्विस्की आदि का इन्तजाम आ पड़ा था। मिस्टर हाउण्ड ने कहा था कि चलते समय सारे खर्च का बिल उन्हें दे दिया जाय। आज उनके सदर जाते समय मातबर-सिंह वर्दी पहनकर सलाम करने गये थे और खर्च का बिल भी उनकी जेब में था। बँगले पर जाकर उन्होंने देखा था कि साहब आज क्रुद्ध से हैं, ड्राइवर ने मोटर की बैटरी को इतने दिनों तक

देखा भी नहीं था और आज आकर उसे चार्ज कराने की सूझी। इसीलिए देरी हो जाने के कारण वे बड़बड़ा रहे थे। मातबरसिंह ने बूटा की खट के साथ सलाम किया। साहब ने मुस्कराकर उनके सलाम का जवाब दिया। खड़े-खड़े बिल देने की हिम्मत मातबर-सिंह को न हुई। रसोईघर के पास खानसामा सामान बँधवा रहा था। उसी के पास जाकर मातबरसिंह ने जेब से वह बिल निकाला और कहा—"लो साहब को दे दो, खर्चे का बिल है।"

खानसामा अनोखी तरह मुस्कराया, बोला—"मुझको जो बख्शीस दीजिएगा, वह भी इसमें कहीं शामिल न कर दीजियेगा। देख कितना खर्च हुआ है।" मातबरसिंह ने दिखला दिया, कुल चालीस रुपये के लगभग खर्च हुये थे। खानसामा चौंककर बोला—"अरे इतना! और यह आटा और चावल-यह क्या साहब ने खाया? यह तो मैंने अपने और साहबों के लिये मँगाया था। ह्विस्की की बोतल, वह तो पेशकार साहब ने मँगवाई थी। साहब तो साथ में लेकर आते हैं।"

इतने ही में अर्दली ने आकर कहा कि कप्तान साहब ने दारोगाजी को बुलाया है। जल्दी से खानसामा ने कहा—"इस बिल को पेश न कर दीजियेगा साहब, मैं अभी दूसरा बिल बनवा दूंगा।"

साहब ने मोटर में बैठते हुये अंग्रेजी में कहा—"थैंक यू सब-इन्स्पेक्टर, बिल है, लाओ कितना देना है।"

जल्दी में मातबरसिंह बोले—'हुजूर, नहीं, हुजूर, अभी बनाया नहीं, बनाकर लाता हूँ।"

साहब ने कहा—"ओह! और कितनी देर रुकना पड़ेगा! अच्छा, तो आप जब सदर आयें, तो बिल भी लेते आवें। कोई जल्दी तो नहीं है? लेते आइयेगा जरूर।" मोटर को घर्र हुई

और साहब चल दिये। खानसामा के परामर्श से जो साहब के लिये बिल बना वह कुल तेरह रुपये का था। बिल का बाकी छब्बीस रुपया और चार रुपये अर्दली और खानसामा का इनाम, कुल मिलाकर तीस रुपये दारोगाजी को अपने पास से खर्च करने पड़े। अफसर के लिये और भी कुछ अधिक सेवा करने का अवसर मिलता, तो प्रसन्नता होती। इतना रुपया तो तुच्छतम था और भी बड़ी वस्तु निछावर करने को वह सदा उद्यत रहते, पर यह सब अफसर के लिये नहीं हुआ। यह किसके लिये हुआ? क्योंकर यह खर्च पूरा होगा और भला क्यों उन्हींको इसे देना चाहिये? यही सोचते हुये मानवरसिंह मिरसा के जंगल के किनारे-किनारे अपने घोड़े पर जा रहे थे कि उन्हें एक काली सी अस्पष्ट वस्तु सामने के झाड़ से ओझल होती हुई दिखलाई दी जिसे देखकर घोड़ा एकाएक चौंक गया। उन्होंने घोड़ा भगाया और देखा कि मोड़ के उस पार जंगल के बीच में जानेवाली सड़क पर एक भालू और उसके आगे-आगे दो व्यक्ति जा रहे थे। भालू की नाक में रस्सी थी और उसे एक आदमी पकड़े था। उस आदमी के साथ एक औरत थी, जो सहसा पीछे से घोड़े का शब्द सुनकर एकाएक उस आदमी से सटकर खड़ी हो गई और फिर जल्दी ही अलग दूसरी ओर जाकर घोड़े के निकल जाने की प्रतीक्षा में खड़ी हो गई।

दारोगाजी ने देखा कि यह वही मदारी था, जिसने थाने के अहाते में कुछ दिन पहले भालू का नाच दिखलाया था। घोड़े को रोककर वे भी धीरे-धीरे चलने लगे और कहा—"क्यों रे, आज इधर जंगल की ओर कहाँ लिये जा रहा है इसे।"

"नहीं सरकार, नहीं हुजूर," मदारी ने कहना शुरू किया—"मैं...मै नहीं ले जा रहा हूँ, हुजूर, अपने आप चली आई।"

"मैं नहीं ले जा रहा हूँ, अपने आप साथ चली आई।" दारोगा ने आश्चर्य से मन ही मन दुहराया कि इसके मानी? पर शीघ्र ही उनकी समझ में आ गया कि जो बात भालू को लक्ष्य करके उन्होंने पूछी थी वह इस सशंकित मदारी ने स्त्री के विषय में समझकर ऐसा उत्तर दिया। पर मन की उस मुस्कराहट को अन्दर ही अन्दर दबाकर गम्भीर होकर उन्होंने कहा—"मैं खूब जानता हूँ, तू भगा लाया है और कहता है साथ चली आई। यह किसी और के साथ नहीं चली आई? ऐसी बातें किसी और से बताना।"

"नहीं हुजूर, नहीं;" एकाएक घोड़े की टाँपों के बिलकुल नीचे सिर नवाकर उसने कहा—'इन्हीसे पूछ लीजिये, यह अपने आप चली आई है।"

"हाँ, हाँ," दारोगाजी ने कहा—"तेरे नाम तो वारन्ट है यह। तू नच थोड़े ही सकता है।"

"लौटेगा नहीं तू?" कहते हुये वे घोड़े से उतर पड़े। जीन के नीचे जो नन्द ढीला हो गया था उसे कसने के लिये और मदारी की व्याकुलता को और बढ़ाने के लिये इससे अच्छा अवसर न था।

"सरकार, माफी चाहता हूँ" कहते हुये मदारी ने अपने मैले बटुये में से उसी समय नोटों की एक गड्डी निकाल कर दारोगा जी की जेब में डाल दी और उनके पैरों से लिपट कर रोने लगा।

जिस उपहास-भाव से वे अब तक मदारी से बात कर रहे थे, वही मदारी के इस अप्रत्याशित व्यापार से एकाएक ताड़ना के भाव में परिणत हो गया पर जेब से नोटों की गड्डी को निकाल कर उन्होंने एकाएक फेंक नहीं दिया। धीरे से उन्हें गिना और गिनते-गिनते कहा—"पचास रुपये; इन्हें भी क्या कहीं से चुरा लाया था? पाजी कहीं का!"

"अरे, ऐसा न कहिये हुजूर।" मदारी ने इस चोरी के दोषारोप से अपने को निर्दोष सिद्ध करने की चेष्टा करते हुये कहा।

दारोगा मानबरसिंह सोचने लगे—'हाय, आज यह अचानक क्या हुआ? ईश्वर ने यह क्या कर दिखाया। इस पूरी घटना में वसीका तो हाथ है! मैं अगर चाहूँ भी तो इसे थाने में नहीं ले सकता। एक खूँख्वार जानवर इसके साथ है। अकेले इन तीनों को इस जंगल के पार बस्ती तक ले जाना भी कठिन है। और अगर छोड़ दूँ तो? छोड़ना तो पड़ेगा ही, इसने गिरफ्तार होने लायक काम ही क्या किया है? मेरे पास सबूत भी क्या है कि यह इस औरत को कहाँ से भगाकर ले जा रहा है? और अगर औरत स्वयं अपनी इच्छा से साथ चली आ रही है, तो पकड़ कर थाने तक ले जाना मूर्खता ही तो है। पर छोड़ना भी तो ठीक नहीं'

यही सोचकर उन्होंने कहा—"चल बे मदारी के बच्चे, आज तुम दोनों हवालात में रहोगे। मैं तुमको छोड़ नहीं सकता।

"नहीं हुजूर, पूछ लीजिये।" मदारी ने फिर गिड़गिड़ाते हुये कहा—"यह अपनी मर्जी से मेरे साथ चली आई है। मैं इसे जबरदस्ती करके नहीं लाया।"

दारोगाजी ने फिर सोचा—'हाँ, इस अकेले जंगल में मैंने इस औरत को इसके साथ देखा, इतना तो यह सिद्ध करने के लिये काफी नहीं है कि यह इसे भगाये लिये जा रहा था। मेरे अतिरिक्त और दूसरा भी तो कोई साक्षी इस बात का नहीं है।'

बन्द बाँधते-बाँधते, दारोगाजी इन्हीं विचारों में उलझे से रह गये। फिर धीरे से घोड़े पर चढ गये। मदारी ने उठकर कहा—"हुजूर; तो मैं जाऊँ?"

"जा, काला मुँह कर।" दारोगाजी ने कहा। पर अपना यह वाक्य स्वयं उन्हें अस्वाभाविक-सा लगा। उन्हें ऐसा लगा मानों

किसी और ने यह वाक्य उनकी प्रबलेच्छा के विरुद्ध उनसे कहला दिया है। वे अपने इस वाक्य पर स्वयं लज्जित होने लगे और उनकी आकृति विकृत हो गयी।

मदारी ने रस्सी पकड़ी और रीछ को लेकर वह सरपट जंगल के बीचो-बीच निकल गया और उसके पीछे पीछे वह औरत भी चल दी। दारोगाजी किंकर्त्तव्य विमूढ से खड़े रहे। फिर उन्होंने घोड़ा मोड़ दिया और लौट कर थाने की ओर चले आये। उस दिन सोते समय उन्होंने अपनी प्राइवेट डायरी में लिखा—

१७ सितम्बर—आज जो कुछ हुआ, उसमें विधाता का हाथ था, या मेरा ही दोष, अब भी निश्चय नहीं कर सका हूँ। पर अचानक उस मदारी का मिल जाना, बिना पूछे अपराध स्वीकार कर आना और छुटकारे के लिये पचास रुपये मेरी जेब में डाल देना, एक बड़ा ही विचित्र संयोग था। विशेषकर एक ऐसे अवसर पर जब कि मैं अकारण ही अपने पास से तीस रुपये के लगभग व्यय कर चुका था। ऐसे व्यक्तियों के ऊपर, जिनसे कि अब उसे वापस पा जाना असम्भव था। पर हाय यह सब अच्छा नहीं हुआ। मुझे उस मदारी का रुपया तत्काल ही वापस कर देना चाहिये था। उसे अगर मैं अब भी कभी पा जाऊं, तो अवश्य यह रुपया लौटा दूँगा। और भी कुछ अपने पास से देना पड़े तो न हिचकूँगा, क्योंकि तभी मेरे पाप का प्रायश्चित्त होगा।

× × ×

एक महीने बाद की घटना है। कालीपुरवा से शाम के समय चौकीदार खबर लाया कि गजोधरसिंह के लड़के को साँप ने काट लिया और घण्टा भर हुआ वह मर गया। दारोगाजी चलकर पंचायतनामा करवा दें ताकि मुर्दा रात भर पड़ा न रह जाए।

बड़े दारोगाजी ऐसे छोटे-मोटे मामलों में स्वयं मौके पर नहीं जाते। दारोगा मातबरसिंह को जाने की आज्ञा हो गई।

चौकीदार एक्का ले आया और दो सिपाहियों को साथ लेकर मान-बरसिंह घण्टे भर बाद घटनास्थल पर पहुँच गये।

मुखिया की चौपाल में दो-तीन चारपाइयाँ डाल दी गईं। दारोगाजी ने पास ही पड़े उस शव का मुँह, जो चादर से ढँका हुआ था, देखा और चारपाई पर आकर कागज-कलम निकालकर पंचायतनामा लिखने बैठ गये। लिखते-लिखते पूछा—"साँप मालूम होता है, बड़ा जहरीला था।"

"हाँ, साहब, काला साँप था, बड़ी-बड़ी फन वाला।" मुखिया ने कहा—"मार भी डाला गया था।"

"अच्छा!" दारोगाजी बोले—"कहते हैं साँप मार डाला जाय, तो काटे हुए आदमी का विष उतर जाता है।"

"हाँ साहब, कहते तो हैं," एक बूढ़े ने कहा—"पर यह साँप ही बड़ा विषैला था। ऐसा साँप मैंने वर्षों में देखा।"

"इधर ऐसा विषैला साँप!"—दारोगाजी लिखते-लिखते बोले—"आया किधर से?"

"पास में जो ओवरसियर साहब का मकान है।" मुखिया बोला—"उनके कमरे के आगे जूही की बेल में था हुजूर। वहाँ बेचारा भगवतीसिंह जा रहा था कि उसका पैर ठीक उसी के ऊपर पड़ गया। बस, फिर भला मौत आते कितनी देर लगती है! वह तो जीव ही ऐसा दुष्ट है कि न मन्त्र-तन्त्र काम में आये, न कोई जड़ी-बूटी।"

"ओह!" दारोगाजी ने कहा "उस जूही की बेल में साँप था। सन्तलाल ओवरसियर की बेल में?" और पास बैठे हुये अवकाश-प्राप्त पुराने डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के ओवरसियर सन्तलाल की ओर कृत्रिम क्रोध की दृष्टि से देखते हुए पूछा—"क्यों जी, तुम साँप भी पाल रखते हो? तुम्हारी उस बेल के कारण एक आदमी की जान चली गई।"

वृद्ध ओवरसियर अब तक सारे गाँव की औरतों की गालियाँ सुन चुके थे। गजेसरसिंह की घरवाली तो काली के मन्दिर में अपना सिर भी पटक-पटककर कह आई थी कि जिस तरह ओवरसियर की बेल के कारण अपने जवान लड़के को खोना पड़ा इसी तरह इन साँपों के कारण, ओवरसियर का एकलौता लड़का लड़ाई पर ही समाप्त हो जाय; घर न लौटे! सारे गाँववाले घुमा-फिराकर जूही की बेल, ओवरसियर का मकान और साँप के रहने की जगह सबका कारण अप्रत्यक्ष रूप से इन्हीं वृद्ध ओवरसियर को बना रहे थे। अब दारोगाजी के इस वाक्य से कि "ओवरसियर तुम साँप भी पाल रखते हो?" सब स्त्री-पुरुषों के कान खड़े से हो गये। जो बात अब तक उनकी दूर कल्पना में एक निमित्त मात्र थी, अब इन कानून के देव, दारोगा के मुँह से वही बात सुनकर सबने यही सोच लिया और ऐसी मुद्रा बना ली मानो वृद्ध ओवरसियर ने ही भगवतीसिंह की हत्या की हो। साँप का डसना निमित्त मात्र रह गया और ओवरसियर उसका मुख्य कारण।

अब तक ओवरसियर के ऊपर जो आघात हुये थे, उनकी व्यर्थता उनका वृद्ध शिक्षित हृदय भली भाँति समझ रहा था। एक प्राणी की मृत्यु का अक्षम्य किन्तु अदण्डनीय कारण बन जाने की ग्लानि और पश्चात्ताप अब तक उसे असह्य मानसिक कष्ट दे रहा था। पर उसमें भीति का या किसी दण्ड की सम्भावना का लवलेश भी न था, अब दारोगाजी के इस वाक्य से सारे गाँववाले उसकी ओर एकटक देखने लगे। धीरज की जितनी चाभी उसने अपने संयमशील हृदय की घड़ी में भरी थी वह सब मानो उस वाक्य के एक ही झटके के कारण समाप्त हो गई और नितान्त अपरिचित क्षोभ से वह एकाएक फूट-फूटकर रो पड़ा।

उसके इस आकस्मिक भाव परिवर्तन से दारोगाजी मन ही मन पुलकित हुए। पर बोले कुछ नहीं, लिखते रहे। कुछ अपने उस वाक्य के अप्रत्याशित फल और कुछ इस वृद्ध के अकारण डर की भावना से अपना और अपने कानून के प्रवीण सिपाहियों का और भी अधिक मनोरंजन करने के लिये, मन ही मन मुस्कराकर उन्होंने कहा—"सिपाही, देखते क्या हो, बाँध लो इस बुड्ढे को। यही तो भगवतीसिंह की मृत्यु का कारण है।'

एक सिपाही ने आगे बढ़कर, वृद्ध के हाथ में हथकड़ी डाल दी, और उसी समय पयाल के ढेर के पास खड़ी एक सम्भ्रान्त महिला कड़ी-सी चीख मारकर मूर्छित होकर गिर पड़ी। तब कहीं दारोगाजी को अपने इस मजाक की गम्भीरता का बोध हुआ। झटपट लिखना समाप्त कर वे उठ खड़े हुए, और ओवरसियर के हाथ पर पड़ी हुई हथकड़ी पर उनकी दृष्टि पड़ी। 'यह ठीक नहीं हुआ, कान्स्टेबल को हथकड़ी डालनी नहीं चाहिए थी। इसे तत्काल खोल देना चाहिए।' यही सोचकर वह आगे बढ़े, पर इच्छा होते हुए भी न तो उन्होंने स्वयं कुछ किया और न सिपाही से करने को कहा। बार-बार वे सोच रहे थे कि अब कहूँ, तब कहूँ, अब इसके हाथ खुलवा दूँ।' फिर भी एक अभूतपूर्व संकोच के कारण कुछ भी न कह सके। ओवरसियर की मूर्च्छित पत्नी को, अब तक दूसरी स्त्रियों ने मिलकर उठा लिया था और ओवरसियर भी उसीकी ओर टुकुर-टुकुर देख रहा था। विवशता की एकमात्र भावना के अतिरिक्त और कुछ वह आँखों से प्रकट नहीं कर पाता था। मैं निर्दोष भी सिद्ध हो सकता हूँ, यह बात अब उसके मस्तिष्क में बिलकुल ही नहीं रह गई थी।

पंचायतनामे पर पंचों के दस्तखत हुए। दारोगाजी ने ओवरसियर का नाम भी पंचों में लिखा था। पर अब और सब लोगों

के हस्ताक्षर हो चुके, तो उन्होंने एक और चाल चल दी। सबके सामने इस मृत्यु का कारण, इसी ओवरसियर को ठहराकर उसी को फिर पञ्च का स्थान देना, उन्होंने ठीक नहीं समझा। ओवरसियर को पंच के रूप में उन्हें स्वीकार करने में अपने आत्म-सम्मान को कुछ ठेस लगती मालूम हुई। इसीलिये उन्होंने अपने कानूनदाँ सिपाहियों की ओर दृष्टि फेरते हुए उसी मजाक के लहजे में कहा—"हाँ, तो मुलजिम के भी दस्तखत इस पर करा लो।"

ओवरसियर ने दस्तखत कर दिये। यह सारा व्यापार क्या है और क्या हो रहा है यह सब उसकी बुद्धि के परे था।

एक्का जुत गया और दारोगाजी उस पर बैठ गये; फिर भी ओवरसियर के हाथ की हथकड़ी न खुली। लोगों ने सोचा कि शायद उसे एक सिपाही के साथ पैदल थाने तक जाना पड़े। दारोगाजी बार-बार यही इच्छा कर रहे थे कि अब सिपाहियों को चाहिए कि उसे खोल दें और बेचारे को इस यन्त्रणा से मुक्त कर दें। पर कहते कुछ भी न थे। सिपाही सोच रहे थे कि अब दारोगाजी कहें कि इसकी जमानत ले लो, तो बात बन जाय। हम कुछ तो प्राप्त कर सकें। इस प्रकार कुछ भी निश्चय न हो रहा था। कोई भी उसके विषय में मुँह खोलने को तत्पर नहीं था और चाहते सभी थे कि अब कोई उसकी इस असह्य वेदना का प्रसङ्ग उठाये।

अन्त में दारोगाजी ने स्वयं सिपाही को बुलाकर कहा—"जाओ छोड़ दो बेचारे को; देर हो रही है, अब चलें।" सिपाही ने हथकड़ी खोल दी और पास ही खड़े मुखिया से कुछ कान में कह डाला। जो दारोगाजी न सुन सके। दारोगाजी को सन्देह हुआ कि कान्स्टेबिल अब इस प्रकार उसे छोड़ने के बहाने कुछ माँगकर उसे और परेशान तो नहीं करना चाहता। वे इसलिए उसे डाँटने ही वाले थे कि सिपाही बिना किसी वस्तु की प्रतीक्षा

के झटपट इक्के पर सवार हो गया। दारोगाजी अपने सन्देह को निर्मूल समझकर निश्चिन्त हो गये और सिपाहियों के साथ थाने वापस चले गये।

× × ×

दूसरे दिन शाम को जब दारोगा मातबरसिंह सदर से लौटे, तो बड़े दारोगाजी ने उन्हें बुला भेजा।

क्वार्टर के आगे पक्के फर्श पर उन्होंने अपनी आरामकुर्सी लगा रक्खी थी। पास की लकड़ी की बेंच पर कस्बे के वैद्य रूपराम पाण्डे और काँजीहाउस के मुन्शी अनवरहुसैन बैठे थे। मातबरसिंह के आने पर बड़े दारोगाजी कुर्सी से उठ गये। और एक हाथ से उनकी बाँह पकड़कर, दूसरे से उनकी पीठ सहलाते हुये उन्हें अपने अन्दर की बैठक में ले गये। पान की तश्तरी आगे बढ़ाकर कहा—"बैठो।" और स्वयं भी कुर्सी पर बैठ गये।

ऐसे तो साधारणतया बड़े दारोगा बहुत कम बोलते थे। वे सुन सब कुछ लेते थे, पर सदा मुँह में पान भरा रहने के कारण या अपनी कर्कश वाणी के कारण अथवा अपने बड़े दारोगा होने के अभिमान से—जैसा कि कभी-कभी मातबरसिंह को सन्देह होता था, वे उत्तर कभी किसी बात का भी नहीं देते थे। मातबरसिंह को उनकी भौंहों का उठना गिरना देखकर ही अपनी बात का सिलसिला तोड़ना या जारी रखना पड़ता था। अगर वे एकाएक क्रोधित हो उठते, तो अपनी 'रिवाल्वर' की गोली से भी तेज आवाज से सारे थाने को कँपा देते थे। इसीलिये मातबरसिंह उन्हें अपना बुजुर्ग, सीनियर अफसर, आक़ा, वालिद के मानिन्द आदि उर्दू के चुने हुए शब्दों से सम्बोधित करके अपना दो साल का 'प्रोबेशन' का समय किसी प्रकार उनके श्रीमुख को खुलने का समय दिये बिना ही समाप्त करने के प्रयत्न में थे। आज इस

प्रकार बुलाकर स्वयं एक नये प्रसंग की बात आरंभ करके अपने इस व्यवहार से उन्होंने मातबरसिंह को अचरज में डाल दिया।

आलमारी खोलकर बड़े दारोगाने नोटों का एक बंडल निकाला और पन्द्रह नोट, दस-दस के गिनकर मातबरसिंह की ओर बढ़ा दिये। कहा—"लो, इन्हें रख लो, मेरी तरफ से है। रक्खो।"

मातबरसिंह ने एक बार लजाई हुई आँखों से बड़े दारोगाजी की ओर देखा और पूछना चाहा कि यह किस बात का पुरस्कार है, पर कुछ न पूछ सके और नोट उन्होंने हाथ में लिये। वे सोचने लगे—"शायद उस जुये की गिरफ्तारी का इनाम होगा। शायद एक सौ दस के चालाना मुकदमों में एक साथ इस थाने के लिये दो-तीन सौ रुपया इनाम मंजूर हो गया होगा। पर साल भर बाद, रियासत से जो थानेदार साहब के लिये नजराना आता है, उसमें से तो यह नहीं है?"

डरते डरते उन्होंने पूछा—"सैयद साहब, यह रुपया?"

"कोई बात नहीं, कोई बात नहीं, रक्खो।" बड़े दारोगाजी ने कहा—"पाँच सौ रुपये दे गया था। छोटी रकम पर कभी नियत न बिगाड़नी चाहिये, समझे दस-पाँच, बीस-पचीस कभी न लेना चाहिये। लो तो हमेशा बड़ी रकम लो, समझे! डेढ़ सौ मैंने रख लिया। सौ रुपया हलका साहब के पास भेज दिया और सौ रुपया सिपाहियों में बाँट दिया। कभी लो तो अकेले नहीं, समझे! आपस में बाँट लिया करो। हिस्सा सबको मिल जाय, पुराने थानेदारों का उसूल है; समझे!"

मातबर सिंह की मुद्रा रक्तहीन शुष्क हो गई। एक गम्भीर दृष्टि से उन्होंने बड़े दारोगाजी की ओर देखा और इस दृष्टि से बूढ़े बड़े दारोगाजी का अपनी सारी कलुषित आत्मा पर तीव्र प्रकाश-सा पड़ता ज्ञात हुआ। आत्म-ग्लानि की तीव्र वेदना से गड़ी

सोचकर कि 'क्या कभी इस प्रकार के पापमय लोभ का संवरण हो सकेगा ?'' वे क्षण भर के लिये सिहर उठे, और इसके बाद इस विचार पर विजय पाने में भी उन्हें क्षण भर ही लगा। बोले—''कुछ नहीं, कोई डर की बात नहीं। ऐसी जगह से मिला है, जहाँ कानून की कोई गिरफ्त नहीं। कल तुम जो पंचायतनामा करने गये थे वहाँ तुमने उस ओवरसियर को शायद धमका दिया था। उसीको गुनिया लेकर आया था, और यह पाँच सौ रुपया दे गया है।''

''राम, राम!'' दारोगा मातबर सिंह काँप से होकर एकाएक कह उठे—''उसने तो कुछ भी नहीं किया था। मैंने तो हँसी-हँसी में उसे धमकाया था।'' पर बड़े दारोगाजी को अपने नायब की यह दुर्बलता पसन्द न आई। बोले—'क्या बात करते हो! उस ओवरसियर ने ठेकेदारों से क्या कुछ कम रकम ली है? चाहे तो वह सोने की अटारी बना ले। मेरे सामने तो वह रिटायर हुआ है। सारे डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का धन उसी के घर तो चला आया है। ऐसे लोगों से तो जितना झटक सको, उतना ही अच्छा। इसमें 'राम राम' किस बात का। तुम अभी हो लड़के ही, लड़कपन की सी बातें करते हो।''

''दारोगाजी,'' मातबरसिंह ने कातर स्वर में कहा—''तो आप इसे भी रख लीजिये, मैं यह सब नहीं कर पाऊँगा।''

खूब जोर से हँसकर बड़े दारोगा ने कहा—'ओफ, ओह! ऐसे ही होगी पुलिस की नौकरी! तुम लाख बचते रहो रिश्वत से, पर कौन इस बात पर विश्वास करेगा कि तुम ऐसी दियानतदारी से काम कर रहे हो। छोटे से बड़े तक सभी अफसर और सभी मातहत जानते हैं कि बिना लिये कोई काम नहीं चलता। अपने ही को देखो। बीस-बाइस वर्ष की उम्र तक पढ़ते रहे, आला तालीम

हासिल की, कानून भी पास किया और अब पैंतालिस रुपये में नायब दारोगा बने हो। तुम बेईमानी न करो, तो क्या करो। हजारों रुपया तालीम में सर्फ किया। अगर फिर ईमानदार रहने का अहद कर लिया है, तो इसमें बड़ी नादानी और कुछ नहीं। पैंतालिस रुपये महीने में, तुम इतने बड़े अंग्रेजीदाँ, क्या कभी दियानतदारी से गुजर-बसर कर सकते हो? इससे दूना-तिगुना माहवार तो तुम अपने स्कूल और कालिज में घर से मँगाकर खर्च करते रहे होगे। अब तुमको इस नौकरी में नामजद करके सरकार ने जान-बूझकर बेईमानी नहीं की तो किसने की। इस पैंतालिस रुपये में तुम्हें अपने पास से वर्दी बनवानी है, घोड़ा खरीदना है और अपना और अपने बाल-बच्चों का पेट पालना है। क्या कप्तान पुलिस, डी० आई० जी० या पुलिस कमिश्नर नहीं जानता कि तुम लेते हो। तुम लाख पाक साफ जिन्दगी बसर करो वे तो हरगिज यकीन नहीं करेंगे कि तुम बिना लिये अपना काम कर रहे हो।"

इसी समय चौकीदार सरूपा पासी ने पुकारा कि सरकार को इन्स्पेक्टर साहब ने याद किया है, और बड़े दारोगा ने जल्दी से खाँसकर थूकदानी में पान उगला और बाहर निकल आये।

× × ×

मातबर सिंह अपने क्वार्टर में लौट आये, पर चुपचाप बैठकर आवश्यकीय सरकारी रिपोर्टों को लिखना असम्भव था। असंयम की आत्मग्लानि बड़ी तीव्रता से उनके हृदय को जलाने लगी। उस वृद्ध के प्रति किया गया दुर्व्यवहार अब उनके हृदय पर तीव्रतम आघात करने लगा था। अब तक जो कष्ट मानसिक था वही भौतिक यन्त्रणा भी देने लगा। एक अपरिमित वेदना से वे विकल से हो कुछ देर मेज पर बैठे रहे, फिर बैठक में खड़े रहे

और फिर रसोई की ओर व्यर्थ ही जा कर लौट कर आँगन में आ गये और दोनों हाथ पीछे कर जल्दी-जल्दी आँगन में टहलने लगे।

इस बारह महीने की नौकरी का एक एक दिन की एक एक घटना सामने आ खड़ी हुई; फिर उससे पूर्व की, उससे भी और पूर्व की। वे सोचने लगे 'क्या यही वह मानबरसिंह है जिसने कालेज और विश्वविद्यालय में शिक्षा प्राप्त की थी, जिसने बी० ए०, एम० ए० और कानून की डिग्रियाँ लीं। नहीं वह कोई और था, अब उससे, उस जीवन से, उस शिक्षा से कुछ भी प्रयोजन नहीं, वह सब स्वप्न था। वह सब आज इस दारोगा के जीवन से तनिक भी सम्बंधित नहीं है!' उनकी आँखें आज अचानक खुल गई और उन्होंने देखा कि वास्तविक मानबरसिंह यही एक साधारण दारोगा है, पैतालीस रुपया माहवार पाता है। कौन नहीं जानता कि वह रिश्वत लेता है। सब रिश्वत लेते हैं, वह भी ले रहा है।

"तब इतने दिनों का संयम? 'नादानी'! यह नादानी थी? मूर्खता! पैंतालीस रुपये में जीविकोपार्जन नहीं हो सकता। जीविकोपार्जन के लिये नौकरी का है।" वे सोचने लगे "साधु और सन्त का-सा जीवन व्यतीत करना था तो नौकरी की ही क्यों? उसके लिये घर-द्वार त्याग कर कमण्डल ले पूर्ण पवित्र और निःस्वार्थ जीवन व्यतीत करना था। फिर असयम संयम की ईमानदारी बेईमानी की, पाप-पुण्य की सीमा ही कहाँ रह जाती है। आज एक सरकारी नौकर दिन भर बैठा रहता है कोई सरकारी काम नहीं करता, तो उसे आज का वेतन नहीं लेना चाहिये। लेता है, तो वह बेईमानी का धन नहीं तो क्या है। मैं अपनी वर्दी पहनकर एक ठसाठस भरे रेल के डब्बे में चला जाता हूँ, जहाँ पर यात्रियों को अपना स्थान पाने के लिये कुली

को चौगुनी-पँचगुनी मजदूरी देनी पड़ी है, पर मेरे लिये एकान्त स्थान दे दिया जाता है, लोग इधर-उधर एक दूसरे को दबाकर जगह कर देते हैं। मैंने अपनी वर्दी का दुरुपयोग तो किया ही, जो आठ-दस आने मुझे कुली को देने थे वह भी मेरे पास ही रह गये। मैंने इतना और यात्रियों से अधिक धन जो बचा लिया, वह अपने पद के दुरुपयोग से अन्य सबको कष्ट देकर ही तो! जिस राजकीय विधान की दृष्टि में रिश्वत लेना दण्डनीय है, वही विधान क्या कम दोषपूर्ण है। अपराधी से 'जुर्माने' के नाम पर जो धन, मुक्ति का मूल्य, ले लिया जाता है वह न्याय्य रिश्वत ही तो है। ब्याज का लोभ दिलाकर, यही विधान बैंकों की स्थापना कराता है, बैंक सर्वसाधारण से ऋण लेता है। लोभ का संवरण न कर सकने से जनता अपना रुपया उधार पर देती है। लोभ की उत्पत्ति का कारण और साधन वही विधान, दूसरी ओर एक ऐसे निरुपाय व्यापारी को जो पैसे की वस्तु को लोभवश ढाई में बेच देता है, मुनाफाखोरी कह कर दण्डित कर देता है और उस पर भी दण्ड क्या है--धन, उस मुनाफे का हजारों, लाखों गुना अधिक धन।

"पर नहीं, यह सब साफ अँधेर है। जान-बूझ कर उस वृद्ध ओवरसियर का धन ले लेना और बिना उसके किसी अपराध के--बड़ा ही अक्षम्य होगा। इस अनधिकार सम्पत्ति का मूल्य हमें और मुझे, पाई पाई चुकाना ही पड़ेगा। विधाता के यहाँ कोई वस्तु यों ही नहीं प्राप्त हो जाती। मैं इन रुपयों में से एक भी पैसा व्यय न कर सकूँगा। मुझे जहाँ तक बन पड़े पाँच सौ रुपया शीघ्र एकत्र करके एक दिन एकान्त में जाकर उसे लौटा देना होगा। बिना ऐसा किये मुझे शान्ति न मिलेगी।"

इसी निश्चय से मानो उसमें बल आ गया और वह अपने

छोटे से दफ्तर की मेज पर आकर बैठ गया। वहाँ एक सादे कागज को लेकर उसने बार-बार लिखा, "अनधिकार सम्पत्ति का मूल्य चुकाना पड़ेगा। विधाता के यहाँ धोखा नहीं चल सकता। मैं रिश्वत नहीं ग्रहण कर सकता। नहीं, नहीं, नहीं।" और इसी प्रकार कई बार लिखकर मानो अपने हृदय में खूब अच्छी प्रकार अंकित करके वह बिना खाये चुपचाप बिस्तर पर आकर लेट गया। आज अपने इस प्रण को और भी दृढ़तर रूप देने के लिये दिन भर की यात्रा के उपरान्त भूख पर विजय पाना ही मानो उस दृढ़ निश्चय के लिये प्रथम संयम का कार्य था।

× × ×

उस घटना के उपरान्त भास्कर सिंह में सचमुच लड़कपन का अन्त हो गया। अब वह भी बड़े दारोगा की भाँति अल्पभाषी और गम्भीर हो गये। बार-बार मनन करने के पश्चात् वे ओवरसियर की उस घटना का दोष अपनी मनोरंजन-प्रियता को देते। इसीलिये अब उन्होंने बातचीत आरम्भ करने से पहिले सोच-समझकर मुँह खोलने का अभ्यास कर लिया था। पर इस अभ्यास के साथ ही उनमें वह प्रमोद का भाव भी नहीं रह गया। वे अब न मदारी के खेल को देखकर हँस पाते, न कुत्ते और बिल्ली की बोली की नकल करके वैसी ही आवाज अपने मुँह से निकाल, धोखा देने की चेष्टा करते। न मुलजिम की गिड़गिड़ाकर माफी माँगने की आदत ही उन्हें, उसी प्रकार गिड़गिड़ाकर उत्तर देकर, अपने सिपाहियों को हँसा देने की प्रवृत्ति पैदा करती। पर रुपया, दस, बीस, तीस करके जमा होता गया। तीन सौ तक पहुँच गया। जब पाँच सौ हो जायेगा, तो अवश्य एक दिन वे उसे ओवरसियर के घर पर दे आयेंगे, यह निश्चय दृढ़तर बनता गया।

एक और प्रभाव उस दिन की घटना का दुनिया के लोगों पर

पड़ा। ओवरसियर के घर सॉप था, उसगे एक मौत हुई, पचा-यतनामा लिखाने मातबरसिंह गये और बेचारे भोले-भाले ओवरसियर से पॉच सौ रुपये वसूल कर लाए, यह बात सब जान गये। "बड़ा तेज निकलेगा। है पक्का घागा। ऐसी जगह हाथ मारा कि न पकड़े जाने का डर और न मुकदमा छूट जाने की आशंका। बड़े पुराने दारोगाओं के भी कान काट गया।" आदि वाक्यों से उनकी कला की प्रशसा होने लगी। बड़े दारोगा भी उस घटना की ऐसी आलोचना सुन कर कभी उन्हें खण्डित न करते।

इस जिले के थानेदार और जिलों में बदलकर गये और अपनी बहादुरी, अपनी लोकप्रियता की कहानियों और अपने अफसरों की चुगतियों के साथ उन्होंने जिन घटनाओं का जो अतिरंजित वर्णन किया, उनमें से अपने एक साथी थानेदार मातबर सिंह की मातबरी से भी सम्बन्धित एक कहानी थी।

पासके जिलों में मातबर सिंह रिश्वत लेने की कला का आदर्श मान लिया गया। उनके रिश्वत लेने की कहानियाँ बनने लगीं। लोग कहने लगे अदालत में मजिस्ट्रेट की ऑखों के सामने वह वकीलों से रिश्वत ले लेता है। अमुक डिप्टी कलेक्टर की पोल खोलने की धमकी देकर उसने एक भारी रकम उससे ले ली। चलते-चलते किसी व्यक्ति से वह रुपया खींच सकता है। एक धोबी से उसने रुपया रखवा लिया क्योंकि थाने के आगे उसका गधा रेंक गया था। असेम्बली के मेम्बर तक उसके घर रुपया दे आये क्योंकि चुनाव की सारी बातें उससे छिपी न थीं। दुबारा चुनाव कराकर, जेल भेजने की धमकी मातबरसिंह ने दी थी।

मातबरसिंह के वास्तविक रूप से भी जो परिचित नहीं थे वे भी उसके तथाकथित कारनामों से, उसके इन कपोलकल्पित कृत्यों से, उसके बारे में धारणा बनाने लगे। उससे अधिक क्रूर और

शरारती पुलीस का दारोगा पास के किसी जिले में न रह गया। अफसरों के क्लबों तक में मातबरसिंह के उस काल्पनिक चरित्र की आलोचना होने लगी। रिश्वत के सम्बन्ध में एक समाचार-पत्र ने अपने सम्पादकीय विचारों के स्तम्भ में लिखते हुये पास के जिले के पुलीस विभाग के एक छोटे अफसर के कारनामों का हवाला दे दिया जिससे मातबरसिंह का काल्पनिक रूप अधिकारियों के सम्मुख भी शीघ्र ही आ पहुँचा।

× × ×

मातबरसिंह अपनी निःस्वार्थ जीविका बिताते रहे और छ महीने की मितव्ययिता के बाद पाँच सौ रुपया बचा लेने में सफल हो गये। उन्होंने सोचा कि 'अगली पहली तारीख को वेतन का कुछ रुपया मिलने और साधारण व्यय से निश्चिन्त होनेपर ओवरसियर के पास जाकर उसके रुपये दे आऊँगा।' इस बीच एक और महत्त्वपूर्ण घटना हो गई। एक दिन प्रातःकाल एक राजनैतिक दंगे में दस-बारह व्यक्तियों को गिरफ्तार कर मातबरसिंह लौट आये थे और जाड़े की धूप में वर्दी उतारकर अपने आँगन में बैठे धूप सेंक रहे थे कि कालीपुरवा के ठेकेदार चले आये। झुककर बन्दगी की और पासवाली चारपाई पर बैठ गये। बहुधा अपने अँग्रेजी के पत्र आदि पढ़वाने के लिये वे दारोगा मातबरसिंह के पास आ जाया करते थे, क्योंकि मातबरसिंह उन्हें अपने हलके का आदमी नहीं, दोस्त समझते थे। उन्होंने सोचा आज भी कोई चिट्ठी पढ़ाने चले आये होंगे। इसीलिये उन्होंने पूछा—"कहो कैसे आ गये।"

ठेकेदार साहब ने जेब से बटुआ निकालकर कहा—"हुजूर, मजदूरों को रुपया बाँटना था; कहीं नोट भुनता नहीं है। नम्बरी नोट के रुपये इधर किसी दूकानदार के पास है नहीं। अगर इस

समय यह नोट सरकार रख लें और दस-बीस रुपया भी मुझे दे दें, तो मैं इन लोगों को बाँट दूँ। बाकी रुपया फिर ले जाऊँगा।"

"क्यों, कितने का नोट है?" दारोगाजी ने कहा--"शायद कुछ रुपये तो मेरे पास निकल ही आयेंगे।"

ठेकेदार ने सौ रुपये का नोट निकालकर दे दिया। दारोगाने कहा--"अच्छा, मैं अभी लाकर देता हूँ।" और अन्दर आकर अपनी मेज की दराज में जो पाँच सौ रुपये रखे थे, उन्हीं में उस नोट को रख कर सौ रुपये के छोटे नोट लाकर ठेकेदार को दे दिये।

रुपया लेकर ठेकेदार बाहर निकला ही था कि दारोगा मातबर-सिंह का क्वार्टर पुलिस के कप्तान और दो अन्य मैजिस्ट्रेटों ने आकर घेर लिया। उनके कपड़ों और सारे मकान की तलाशी हुई। अन्य वस्तुओं के साथ सौ रुपये का एक नोट भी, जिसमें जिला मैजिस्ट्रेट के हस्ताक्षर थे, उनकी दराज से निकल आया। उन पर एक राजनैतिक कैदी से उसी ठेकेदार के द्वारा सौ रुपया रिश्वत लेने का अभियोग लगाया गया।

मुकदमा हुआ, कालीपुरवा के ठेकेदार और सिरसा के रघु-राजसिंह ने सबूत पक्ष की ओर से गवाही दी। दारोगा मातबर-सिंह ने अपराध स्वीकार कर लिया। वह पाँच सौ रुपया जब्त हो गया। और दो साल का कारावास, और एक हजार रुपये जुर्माने का दण्ड दारोगा मातबरसिंह को मिला। जज ने फैसले में जो कुछ लिखा, उसमें से एक वाक्य उल्लेखनीय है और वह है "मातबरों के शेर, मातबरसिंह के लिये इससे कुछ कम दण्ड देना, कानून की उपेक्षा करना होगा।"

१६

प्रोफेसर की भूल

मनोविज्ञान के प्रोफेसर मि० आप्टे मन ही मन कुछ गुनगुनाते हुए अपने छोटे-से दफ्तर में प्रविष्ट हुए, और कैलेण्डर पर दृष्टि पड़ते ही उन्हें स्मरण हो आया कि आज कचहरी जा कर स्वर्गीय अरुणकुमार बरानिका की मृत्यु की गवाही देनी है।

'टेढ़ी समस्या है।' उन्होंने सोचा—'गवाही भी एक मुसीबत है।' मेज पर रक्खी हुई आज की डाक उलटते पलटते वह फिर सोचने लगे—'एक बेचारी विधवा दुःख में है। पति ऐसी एकान्त जगह में स्वास्थ्य-लाभ के लिये गये कि उचित उपचार न हो सका। कोई डाक्टर उन्हें देखने न जा सका। मृत्यु हो गई। और यद्यपि मृत्यु का समाचार तमाम पत्रों में छप गया है, और अनेक शोक-सभाएँ हो चुकी हैं, पर अदालत के लिये यह सब मान्य नहीं। बेचारी विधवा बरानिका को, बिना मृत्यु का डाक्टरी प्रमाण दिये, पति की सम्पत्ति में से कुछ भी लेने का अधिकार नहीं। मेरी गवाही से यदि उसको उत्तराधिकार मिलने में सहायता मिल जाय, तो अच्छा ही है। बस, जरा सँभलकर मुझे अपना बयान देना होगा। अधिक बक जाने का मेरा जो स्वभाव हो गया है, यही मुझे गड़बड़ा देता है। इसी से मन में कुछ घबराहट मालूम होती है। विपक्षी वकील के प्रश्नों से कुछ झुँझलाहट-सी मुझे हो जाती है।'

'पर यह अधिक बक देना क्या एक दोष है?' अपने एक प्रकाशित लेख को, जो आज ही डाक से आया था, देखते हुए प्रो० आप्टे ने फिर सोचा—'मुझे अपनी बात को सर्वसाधारण की समझ के योग्य बनाने के लिये अधिक विस्तार के साथ कहना पड़ता है। इसे दोष नहीं कहा जा सकता!'

एक भीनी-भीनी सुगन्धि से प्रो० आप्टे का ध्यान भंग हो गया। सुगन्धि! सुगन्धि तो कीटाणुओं से आती है। बैक्टीरिया ही सब प्रकार की गन्ध के कारण होते हैं। कीटाणु, बैक्टीरिया, ग्रीक चिपकना! हाँ, बैक्टीरिया न हो, तो जीवन असम्भव है। इसी कीटाणु के कारण दूध से दही और घी, शर्करा से शराब जीवित की मृत्यु, और मृत्यु से भी जीवन प्राप्त होता है! सुगन्धि!'

सुगन्धि फिर भी उनका ध्यान भंग करती रही। प्रो० आप्टे ने नाक से 'स्सी' करते हुए एक साँस ली, और तभी उनकी दृष्टि आज की डाक से आये हुये एक हलके गुलाबी रंग के लिफाफे पर पड़ी। उन्होंने चट खोलकर उसे पढ़ना आरम्भ किया। सुगन्धि तीव्रतर हो गई। प्रो० आप्टे ने मन ही मन कहा—'लिफाफे के अन्दर की वायु में कीटाणुओं का अधिक घना केन्द्रीकरण था, इसीलिये सुगन्धि का अधिक होना स्वाभाविक था। और यह कागज अनुवीक्षण-यन्त्र से देखा जाय, तो अवश्य छिद्रमय होगा। बाहर सुगन्धि आ जाने का कारण था औसमौसिस, लिफाफे के बाहर की वायु में कीटाणुओं का कम संकलन। पत्र में लिखा था—
प्रिय प्रोफेसर साहब,

इतने दिनों बाद एकाएक मेरा पत्र पा कर आप आश्चर्य में पड़ जायँगे, पर यह आपकी असीम कृपा के लिये धन्यवाद मात्र देने के निमित्त लिख रही हूँ। जब से आपके आदेशानुसार नये डाक्टर साहब से चिकित्सा कराई है, बिल्कुल स्वस्थ हूँ। यद्यपि

यहाँ पर लोगों का विश्वास मनोवैज्ञानिक चिकित्सा पर बिल्कुल न था, फिर भी मेरे आग्रह पर चिकित्सा होती रही। और इन छः महीनों में एक बार भी दौरा नहीं आया। विश्वास है, मैं अब उस भयंकर रोग से छुटकारा पा गई।

सदा अनुग्रहीत आपकी—

अरुणिमा जयन्ती।'

'ओह, वह लड़की!' डाक्टर ने मन ही मन कहा—'अच्छा हुआ; स्वस्थ हो गई। साइकियट्री (मानसिक रोगों की चिकित्सा) को लोग जादू-टोना तो कहते ही हैं; पर रोगी का यदि विश्वास हो कि मैं अच्छा हो जाऊँगा, तो अवश्य उसे लाभ हो जाता है। शाम के ठीक छः बजे इसे मृगी का दौरा आ जाता था। अब अच्छी है। मैंने डाक्टर फड़के से चिकित्सा कराने को कहा था। फड़के मानसिक रोगों में बड़े दक्ष हैं। उन्हें हिन्दुस्तान का फ्राइड कहना चाहिये!'

पत्र बन्द करके प्रो० आप्टे ने मेज पर रख दिया। फिर कुर्सी से उठ गये। सोचा, 'पत्नी को दे आऊँ। वह भी तो जानती थी अरुणिमा जयन्ती को?' पर दूसरे ही क्षण उन्हें ख्याल आया—'यह ठीक न होगा। पत्नी न जाने क्या समझे! उस दिन अरुणिमा मृगी के दौरे के एकाएक आ जाने से लड़खड़ाती हुई अचानक मेरी कुर्सी से ऐसे टकरा पड़ी थी कि मैं नीचे जा गिरा था, और मेरी पत्नी अकारण ही मुझसे क्रुद्ध हो गई थी!'

'पर आज यह पत्र उसने भेजा ही क्यों? ऐसा सुगन्धित कागज!'

'नहीं, ऐसा सभी रोगी करते हैं। मनोवैज्ञानिक चिकित्सा की सफलता के विषय में, मैं जो पुस्तक लिख रहा हूँ, उसमें इस लड़की का भी एक उदाहरण रहेगा। मैं इसकी आज्ञा ले कर

चिकित्सा के पूर्व और उसके उपरान्त की इस लड़की की पूरी जीवनी दूँगा। ऐसे तीन-चार भी और प्रमाण मिलने पर "मृगी के कारण" नामक वह अध्याय बड़ा मनोरंजक हो जायगा। पत्नी को दिखाना व्यर्थ है। मनोविज्ञान उसके लिये भी जादू-टोना है" ऐसा सोचते हुए डाक्टर महोदय अपनी और डाक देखने लग गये।

घण्टी बजी। कन्धे के ऊपर, पीछे की ओर, गर्दन मोड़कर प्रो० आप्टे ने बाहर देखा। कोई आगन्तुक था।

उठकर झटपट उस लाल लिफाफे को जेब में डाल लिया, और अपनी बैठक की ओर जाकर चपरासी से कहा कि आगन्तुक को बुला ले।

आगन्तुक वकील विश्वेश्वरनाथ थे।

"ओह, आप हैं!" प्रोफेसर ने कुछ चौंक कर कहा—"आज ही है न उस मुकदमे की तारीख? कब चलना होगा?"

"मुकदमा तो पेश है," वकील साहब ने कहा—"पर आप आध घण्टे के अन्दर जब चल सकें, तब आपकी गवाही हो जायगी। तब तक और गवाह गुजर रहे हैं।"

"जरा बैठिये," डाक्टर ने स्वयं भी बैठते हुये कहा—"मुझे क्या कहना होगा? यह भी तो समझा दीजिये। मैं बहुधा गड़बड़ी में पड़ जाता हूँ। मुझे तो सारा न्याय शब्दों के जाल पर ही निर्भर-सा जान पड़ता है। आप गवाह से ज्यों-त्यों करके कुछ ऐसे शब्द कहलवा लीजिये, अथवा विपक्षी गवाह से अपने अनुकूल ऐसे उत्तर निकलवा लीजिये, जिनसे आपका काम बन जाय—बस, इसीलिये क्या इतना बड़ा ढोंग न्याय का रचा गया है? न्यायाधीश, यह जानते हुये भी कि वास्तविक घटना इस प्रकार के प्रश्नोत्तर से बिल्कुल उलट गई है, स्वयं कुछ भी नहीं

कर सकता। इस प्रकार सारा न्याय वाक्-पटुता और शब्दों की जालसाजी पर ही तो निर्भर है ?"

वकील ने कहा—"सचमुच ऐसा ही है, पर..."

"पर," प्रो० आप्टे कहने लगे—"एक प्रकार से शब्द की यह महत्ता है भी। मुँह से निकला शब्द, धनुष से छूटे बाण की भाँति, अप्रतिगामी है—ऐसा कौटिल्य ने कहा है। 'शब्द' सत्य एवं अविनाशी है—ऐसा कणाद ने कहा है। 'शब्द' अपनी तरंगों के कारण एक बार किसी स्थान से वायुमण्डल में वितरित होने पर रेडियो आदि यन्त्रों-द्वारा सैकड़ों-हजारों कोस दूर दुनिया के किसी दूसरे कोने पर फिर सुना जा सकता है। 'शब्द' नष्ट नहीं होता। लेटिन में शब्द को 'वेरबम्' कहते हैं। और सत्य भी उसी धातु से बना है। सत्य को 'वेरस्' कहते हैं। इसी 'वेरस्' से तो 'वेरीफाई', 'वेरिफिकेशन' आदि अँग्रेजी के सत्य-बोधक शब्दों की रचना हुई है।"

एकाएक प्रोफेसर को स्मरण हो आया। 'अधिक वार्त्तालाप करने का मेरा स्वभाव सचमुच पड़ ही गया है। न्यायाधीश के सम्मुख तो जितना संक्षिप्त बयान दीजिये, उतनी ही बचत होती है। विपक्षी वकील को उतना ही कम पूछने का अवसर मिलता है।' प्रसंग बदलते हुये उन्होंने कहा—"हाँ, तो मुझे कहना क्या है, वकील साहब ? मैं उस बेचारी की सहायता करना अपना धर्म समझता हूँ।"

वकील ने कहा—"आप जब मैजिस्ट्रेट के सामने जाइयेगा, तो आप से शपथ लिवाई जायगी। इसके बाद आप बयान देंगे।"

"हाँ," प्रो० आप्टे ने कहा—"यह तो मैं जानता हूँ।" मन ही मन वकील की इस बात पर उन्हें झुँझलाहट हो आई कि इतनी छोटी-सी बात कि न्यायाधीश के सामने जा कर शपथ

लेनी पड़ती है, यह वकील साहब समझते हैं कि वह नहीं जानते!

"आप चार बातें याद कर लीजिये," वकील ने फिर कहा—"कि अरुण कुमार बरानिका को आप जानते थे, मृत्यु से पहिले आप उन्हें देखने गये थे, उन्हें श्वास-रोग था और मृत्यु के बाद भी आप उनके अन्तिम-संस्कार मे सम्मिलित हुये थे। बस यही चार बातें हैं—मृत्यु से पहिले का परिचय, श्वास का रोग, मृत्यु और अन्तिम सस्कार। चारो बातें ऐसे एक-दूसरे से सम्बन्धित हैं कि अधिक सोचने की आवश्यकता ही नहीं। अरुण कुमार बरानिका नाम तो आपको याद रहेगा ही?"

प्रोफेसरने मन ही मन और भी कुढ़ते हुये सोचा—'कैसी बाते ये वकील साहब समझा रहे हैं! इतनी छोटी-छोटी बातें भी, ये समझते है, मुझे याद न रहेंगी! मेरी स्मरण-शक्ति का, मनोविज्ञान के एक विशेषज्ञ की स्मरण-शक्ति का, इतना कम विश्वास है इन्हें! एक बच्चे को जैसे सिखलाया जाता है, वैसे ही पढ़ा रहे हैं मुझे! विपक्षी वकील क्या पूछेगे, ये बातें है असल मे जानने की! पर ठीक भी है। यदि मैं कहूँगा ही कम, तो वह पूछेगे क्या?'

"बस इतना ही मुझे कहना है?" डाक्टर ने कुछ उदासीनता से पूछा। और वकील साहब ने इसके उत्तर में क्या कहा, हाँ या ना, वह कुछ भी न सुन सके। और ध्यानावस्थित हो सोचने लगे—'इस वकील को मेरी स्मरण-शक्ति का भला इतना कम भरोसा क्यो है? वकील है बेचारा! मनोविज्ञान की बात ही क्या जाने? लाइयर को लॉ के अतिरिक्त और करना ही क्या है? ऑंग्रेजी का लॉ शब्द उसी धातु से तो बना है, जिससे लो, लोड आदि शब्द बने है। लॉइयर, लॉ मैन, लो मैन,! वास्तव में एक साधारण ज्ञान वाला मनुष्य, जिसे ऑंग्रेज लो मैन कहेगा, विज्ञान की विलष्ट विशेषताओ को जाने क्या?'

सहसा प्रोफेसर आप्टे एक और विचार के आने से प्रसन्न हो गये। आज जो लेख 'लोकप्रिय विज्ञान' के लिये लिखा गया है, उसे प्रकाशन के लिये भेजने से पहिले, किसी साधारण मनुष्य को अवश्य पढ़कर सुना देना चाहिये। इससे एक साधारण व्यक्ति की समझ का अनुमान हो सकता है, और लेख के ऐसे अंशों का संशोधन हो सकता है, जो उसकी समझ में कठिनाई से आयें।

"एक काम था, वकील साहब," प्रोफेसर ने सकुचाकर कहा—"यदि समय हो, तो एक लेख आपको सुना दूँ ? उसे देख लें, फिर चलें।"

वकील ने कहा—"जी हाँ, ऐसी जल्दी भी नहीं है। हमलोग जिस समय भी पहुँचें, आपकी गवाही तुरन्त ही हो जायगी। और उस लेख में थोड़ा ही समय तो लगेगा ?"

'समय, काल, मृत्यु !' प्रोफेसरने मन ही मन सोचा। दराज खोली, और गुनगुनाने लगे—'समय ! समय अमूल्य है ! मूल्य ! टाइम इज मनी ! ग्रीक में समय को क्रोसोन कहते हैं, और स्वर्ण को क्रुसौस। दोनों प्राय एक ही अर्थ रखते हैं। समय स्वर्ण है ! आइन्स्टीन कहता है, समय लचीला है। सृष्टि में समय, प्रकृति और अवकाश, हड्डी, माँस और रक्त की भाँति, एक दूसरे पर अवलम्बित हैं। सोना भी लचीला है।' एकाएक फिर उन्हें खयाल आया—'इस प्रकार गुनगुनाना ठीक नहीं है ! मेरी पत्नी बहुधा कहती है कि मैं पागलों की भाँति न जाने क्या-क्या बकने लग जाता हूँ। इस प्रकार ऊट-पटाँग विचारों को अनायास ही मस्तिष्क में आने देना पागलपन की उत्पत्ति का लक्षण नहीं है, तो क्या है ?'

तब लेख निकाल कर उन्होंने वकील साहब को सुनाना आरम्भ किया। वह आइन्स्टीन के सापेक्ष्यवाद पर था।

प्रोफेसर उसे पढ़ते गये। यद्यपि शब्द सभी परिचित थे, पर सारे लेख का तात्पर्य कुछ भी वकील साहब की समझ में नहीं आया। वह प्रोफेसर की सुडौल, सुन्दर मुद्रा को, उनकी ठुड्डी के ठीक बीच में पड़े सुन्दर से गड्ढे को, नाक के ऊपर तक खिसकी हुई ऐनक को देखते और विज्ञान के इस जीवित कोप की विचित्र-सी बातों को सोचते रहे।

सारे लेख को प्रसन्नता-मिश्रित ओजस्वी स्वर में पढ़कर समाप्त करते हुए, प्रोफेसर ने कहा—"कहीं कोई ऐसी बात तो नहीं रह गई, जो आप न समझे हों? मैंने इसलिये आपको सुना देना उचित समझा कि जहाँ पर आप न समझ पाये हों, वहाँ पर भाषा कुछ और सरल बना दी जाय।"

वकील ने कहा—"सचमुच लेख बड़ा लोकप्रिय होगा!" और उकता कर सोचा—'अब चलना ठीक होगा।'

"सब कोई समझ सकेंगे न?" प्रोफेसर ने बच्चों की-सी प्रसन्नता से पूछा।

"इसमें सन्देह ही क्या है?" वकील ने अधीरता से कहा—"अब, साहब, चलना चाहिये!"

प्रो० आप्टे जल्दी से तैयार हो कर आ गये, और दोनों मोटर में बैठकर कुछ ही क्षणों में मैजिस्ट्रेट के सम्मुख उपस्थित हुये। प्रोफेसर आप्टे सोच रहे थे—'आइन्स्टीन, समय, स्वर्ण, फीस, बीमे का रुपया, कुमोस, काल, अकाल मृत्यु, वय, समवयस्क!'

× × ×

शपथ लेने के उपरान्त अपना संक्षिप्त-सा परिचय देकर, प्रोफेसर ने मैजिस्ट्रेट के सामने कहा—"मैं मिस्टर जयन्तिका को जानता था।"

"मिस्टर जयन्तिका ?" मैजिस्ट्रेट ने आश्चर्य से पूछा।

"जी हाँ, मिस्टर वरुणकुमार जयन्तिका," प्रोफेसर ने कहा—"वह अब मर गये है।"

अदालत में एक अजीब-सा सन्नाटा छा गया। स्वयं न्यायाधीश भी इस नये नाम को सुनकर चौंक पड़े।

वकील विश्वेश्वरनाथ ने न्यायाधीश को सम्बोधित करने का प्रयत्न करते हुये अंग्रेजी में कहना चाहा कि उनके गवाह को ठीक याद करने का समय दिया जाय, पर विपक्षी वकील ने उन्हें बीच ही में टोक कर कहा—"हुजूर, प्रोफेसर साहब को स्वतन्त्र रूप से अपना कथन पूरा करने का अवसर दिया जाय। उनकी गवाही बड़ी ही आवश्यक और प्रामाणिक होगी। थोड़ी-सी बाधा से भी मेरे पक्ष के प्रति महान् अन्याय हो जाने की सम्भावना है।"

न्यायाधीश ने झुँझला कर दोनों वकीलों को चुप हो जाने का आदेश दिया।

इस गड़बड़ी के बीच अपने पक्ष के वकील की चिन्ता का यह अर्थ लगाकर कि शायद इस समय भी इन्हें मेरी स्मरण-शक्ति का भरोसा नहीं रहा और ये इतनी जल्दी मचाकर सब-कुछ एक ही शब्द में मुझसे कहलवा लेना चाहते है, प्रोफेसर आप्टे कुछ देर के लिये चुप रह गये। सोचने लगे—'जिस बेचारे की मृत्यु की गवाही देने मैं आया हूँ, मेरा समवयस्क था! मेरे कई साथी मर गये!' पर वह अधिक न सोच सके। न्यायाधीश ने प्रश्न किया—"प्रोफेसर साहब, कहिये, कौन से व्यक्ति की मृत्यु के विषय में आप कह रहे है?"

"वरुणकुमार जयन्तिका" प्रोफेसर ने कहा।

"ठीक स्मरण कर लीजिये," न्यायाधीश ने बिना कुछ लिखे हुये, उचित उत्तर सुनने की प्रतीक्षा में कहा।

"जी, याद है।" प्रोफेसर ने कहा—"ठीक याद है। मृत्यु से पूर्व, मैं उन्हें देखने गया था। उन्हें श्वास-रोग था। मृत्यु के बाद भी मैं उनके अन्तिम संस्कार में सम्मिलित हुआ था।"

"बस, यही आपको कहना है?"

"जी हाँ, बस इतना ही।" प्रोफेसर ने अपनी स्मरण-शक्ति के प्रति अविश्वास को मानो निर्मूल सिद्ध करते हुए विजयोल्लास से जल्दी में कहा। और जब विपक्षी वकील ने कहा कि वह प्रोफेसर से कोई प्रश्न न करेंगे, तो प्रो० आप्टे बड़ी प्रसन्नता से लौट आये।

× × ×

उस दिन जब प्रो० आप्टे का स्मरण कराया गया कि वह वास्तविक मृत व्यक्ति का नाम बिल्कुल भूल गये थे, तो उन्हें विश्वास ही न हुआ। और जब मुकदमे की मिसिल से पढ़ कर सुनाया गया, तो उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ। विधवा वरालिका से, उन्होंने लिखकर क्षमा-याचना की।

'विस्मृति के कारण' नामक अपनी पुस्तक में, जो इस घटना के उपरान्त शीघ्र ही प्रकाशित हुई, अपने इस विचित्र विस्मरण का उन्होंने विस्तृत उल्लेख किया। उसका सारांश इस प्रकार है—

बयान के समय विधवा वरालिका को देखकर, अरुणिमा जयन्ती का विरुद्ध विचार, आ कर उनके मस्तिष्क में एकाएक गड़बड़ी डाल गया। जिस नाम को वह भूलना चाहते थे, उसके बजाय मुख्य बात को भूल गये। इस प्रकार अचेतन मस्तिष्क से सभय, वयस्क, बैक्टीरिया, वेरबस, वेरबुम आदि उस घटना के कुछ पूर्व के विचारों ने वरुण नाम को जिह्वा पर ला दिया। समवयस्क की मृत्यु से अपनी मृत्यु की भी आशंका, वकील के अविश्वास के कारण उसे सहायता न देने का गुप्त अचेतन विचार, ये सब अनिरोपित भावनायें भी उस विस्मरण के कारण बन

गये। इस प्रकार की विस्मृति को 'व्यक्तिगत बाधा' कहना ठीक होगा।

पर जिस प्रकार समाचार-पत्रों में छपे श्री अरुणकुमार बरानिका के मृत्यु-समाचार को न्यायाधीश ने पर्याप्त प्रमाण न मान कर निषिद्ध ठहरा दिया, उसी प्रकार महान् मनोवैज्ञानिक प्रो० आप्टे का उपर्युक्त व्याख्यान भी उस विधवा को उत्तराधिकार दिलाने में असफल रहा।

प्रो० आप्टे न्यायाधीश की इस नासमझी को 'ले मैन' (साधारण व्यक्ति) का साधारण दोष कहकर सन्तोष कर लेते हैं। स्वाधीन सरकार के अधिकार प्राप्त करते ही, वह प्रत्येक न्यायाधीश के लिये मनोविज्ञान की विशिष्ट शिक्षा अनिवार्य कराने का प्रयत्न करेंगे, ऐसा उनके लेखों से प्रकट होता है।